UNIVERSAL
LIBRARY

OU_176195

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—68—11-1-68—2,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H294.4 V59J Accession No. H3464

Author विजयेन्द्रसूरि.

Title जगत और जैन दर्शन अनु. हीरालाल दूगड़. 1940.

This book should be returned on or before the date last marked below.

जगत् और जैनदर्शन

लेखक—

विद्यावल्लभ हिन्दीविनोद इतिहासतत्त्वमहोदधि

जैनाचार्य-विजयेन्द्रसूरि

C. M. O. I. P.

अनुवादक—

व्याख्यानदिवाकर विद्याभूषण

पंडित हीरालाल दूगड़ (स्नातक)

प्रकाशक—
यशोविजयग्रन्थमाला
हेरीसरोड—भावनगर
(काठियावाड़)

जेसलमेर निवासी सेठ कन्हैयालालजी बडेर के स्मरणार्थ उन
के सुपुत्र सेठ रूपचन्दजी बडेर की आर्थिक सहायता से
इस पुस्तिका की १००० प्रतियाँ प्रकाशित हुईं।

श्रीवीर संवत् २४६६ } धर्म संवत् १८
विक्रम संवत् १९९७ } ई० स० १९४०
प्रथमावृत्ति प्रति ३०००

जेसलमेर निवासी

स्वर्गस्थ सेठ कन्हैयालालजी बडेर

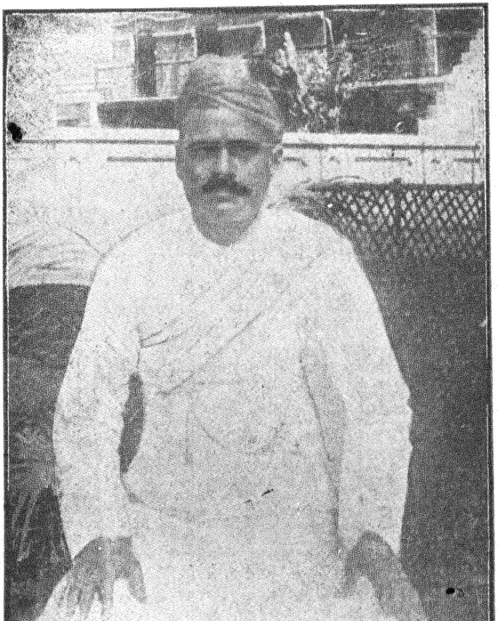

परिचय

कवर पर प्रकाशित पहली पांच पुस्तकों को आचार्यश्री ने तीन वर्षों के सतत परिश्रम से तैयार किया है। ये पुस्तकें डा० त्रिभुवनदास लहेरचन्द शाह एल० एम० एण्ड० एस० (बड़ौदा) लिखित प्राचीन भारतवर्ष (गुजराती) के तीन भागों की समालोचना रूप हैं! डा० शाह रोगियों के चिकित्सक हैं न कि इतिहास के विद्वान। इसलिये इस कार्य को यदि कोई इतिहासवेत्ता अपने हाथ में लेता तो अति उपयुक्त होता। हमें तो आश्चर्य होता है कि डा०शाह इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ हैं तो भी इस कार्य को अपने हाथ में लेते समय उन्हें अपनी इस त्रुटि का विचार क्यों नहीं हुआ। ऐसी अनधिकार चेष्टा करने से विद्वानों में मात्र हँसी का पात्र ही बनना पड़ता हैं।

आचार्यश्री ने जब डा० शाह के ग्रंथों का क्रमशः अवलोकन करना आरंभ किया तब आपको ऐसा प्रतीत होने लगा कि ये ग्रंथ ऐतिहासिक जगत् में विकृति फैलाने के विशेष कारण होंगे। जिसके परिणाम स्वरूप (१) जैन साहित्य और जैन लेखकों का गौरव घटेगा एवं (२) ऐतिहासिक संसार में भ्रम (Misunderstanding) फैलेगा। इस भ्रम को दूर करने के विचार से आपने इन ग्रंथों की अनुक्रम से समालोचना करना

प्रारंभ कर दिया। जैसे २ आपके ग्रंथ प्रकाशित होकर भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के हाथों में पहुंचने लगे वैसे २ डा० शाह के ग्रंथ अप्रमाणिक सिद्ध होने लगे। अनेकों विद्वानों ने इन ग्रंथों की समालोचना करते हुए इन्हें अप्रमाणिक सिद्ध किया। जिन लोगों ने जल्दबाज़ी से इनके ग्रंथों पर अभिप्राय दिये थे उन्हें भी अपनी भूल मालूम होने लगी जिससे उन्होंने भी अपने अभिप्रायों को बदला। अन्त में ऐसी नौबत आई कि डा० आर० सी० मजूमदार ने अंग्रेजी मासिक मार्डन रिव्यु के मई १९४० के अंक में) यहां तक लिख दिया कि :—

इस ग्रंथमाला की पहली पुस्तक की समालोचना इस पत्र के (गत वर्ष के) अप्रैल वाले अङ्क में प्रकाशित की जा चुकी है और उसमें ऐतिहासिक पुस्तकें लिखने में ग्रंथकार की अयोग्यता के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया था वह वर्तमान पुस्तक से और भी स्पष्ट हो जाता है। ग्रन्थकार की अज्ञानता और दूरदर्शिता का अभाव इस बृहत् पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ में दिखाई देता है। इस पुस्तक पर ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में गम्भीर विचार नहीं किया जा सकता। हम ग्रन्थकार के मित्रों और हितचिन्तकों से फिर अनुरोध करते हैं कि वे लोग ग्रन्थकार को एक ऐसा कार्य करने से रोकें जिससे उनकी हँसी होगी और भारतीय विद्वद् समाज की बदनामी।

अन्त में हम जनता से अनुरोध करते हैं कि एक बार आचार्यश्री द्वारा रचित सब पुस्तकें मँगवा कर अवश्य पढ़ें।

प्रस्तावना

यह छोटी सी पुस्तक उन तीन व्याख्यानों (निबंधों) का संग्रह रूप है जो कि इतिहासतत्त्वमहोदधि जैनाचार्यश्रीविजयेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने भिन्न भिन्न समयों में जैनेतर संस्थाओं के लिये लिखे थे।

प्रथम व्याख्यान वृन्दावन गुरुकुल में, विद्यापरिषद् के प्रमुख स्थान से आचार्यश्री ने दिया था। दूसरा व्याख्यान मथुरा में श्री दयानन्द—शताब्दि के अवसर पर धर्मपरिषद् में आचार्य श्री के खास प्रतिनिधि फूलचन्द हरिचन्द दोशी ने पढ़ कर सुनाया था। तथा तीसरा व्याख्यान कलकत्ता की इंडियन फ़िलॉसोफ़िकल कॉंग्रेस में जैनतत्त्वज्ञान के विषय में निबन्ध रूप था।

प्रथम व्याख्यान में आचार्यश्री ने प्रमुख के उच्चासन पर बैठ कर आर्यत्व की जो सुन्दर और स्पष्ट व्याख्या की है-जैनदृष्टि से आर्यों के जो प्रकार बतलाये हैं वे मात्र आर्यसमाज अथवा जैनसमाज के लिये ही उपयोगी हों, ऐसी बात नहीं है किन्तु मनुष्यमात्र के लिये उन्नति के पथप्रदर्शक हैं। अमुक

संप्रदाय, अमुक समाज अथवा अमुक देशवासी ही आर्यत्व प्राप्त कर सकते हैं या आर्य हैं ऐसी संकुचित और अनुचित व्याख्या जैनदृष्टि को मान्य नहीं है "परन्तु त्यागने योग्य जो हो उसे त्याग कर ग्रहण करने योग्य सद्गुणों को स्वीकार करना ही आर्यत्व है"। यह व्याख्या स्पष्ट कर रही है कि सद्गुणों को ग्रहण करने वाला और दुर्गुणों का त्याग करने वाला प्रत्येक व्यक्ति आर्य है।

दूसरे निबन्ध में महाराजश्री ने इतिहास, तत्त्वज्ञान, ईश्वर, स्याद्वाद, आदि विषय संक्षेप में बतलाये हैं। परस्पर की ग़लत-फ़हमी को दूर करना, एक दूसरे के यथार्थ परिचय को प्राप्त करना इस धर्म के नाम पर होने वाले क्लेशों-झगड़ों पर ठण्डा जल डाल कर जलती आग को शांत करने के समान पुण्य कार्य है।

तीसरे निबन्ध के लिये ऐसा कह सकते हैं कि यह एक प्रकार से दूसरे व्याख्यान के अनुसंधान में ही है। दूसरे व्याख्यान में जो कुछ अपूर्ण लगता है वह इस निबन्ध में पूर्ण किया गया है।

जैनधर्म के प्रचार के लिये सब भाषाओं में ऐसे छोटे छोटे निबन्ध लिखने चाहिये। इतिहासतत्त्वमहोदधि आचार्यश्री विजयेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज जो कि विश्वसाहित्य का अच्छा परिचय रखते हैं तथा जिनकी सलाह और सूचनाएं अनेक पाश्चात्यपंडितों को मार्गदर्शक होती हैं-यदि चाहें तो इतिहास, साहित्य और तत्त्वज्ञान के विषय में बहुत नवीन प्रकाश डाल सकते हैं।

प्रस्तुत तीनों निबन्ध लिखकर तथा जनसाधारण के सामने व्याख्यान द्वारा सुना कर आचार्यश्री ने जिनशासन की जो सेवा की है वह वास्तविक में प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। हमारी धारणा तो यह है कि ऐसे निबन्ध ही जैनधर्म के प्रति फैली हुई भ्रांतियों का नाश कर जैनधर्म के उत्तम और पवित्र सिद्धांतों का जनता में प्रचार कर इसके प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करने को समर्थ हो सकते हैं। इसलिये जिनशासन की उन्नति चाहने वाले प्रत्येक विद्वान को चाहे वह मुनि हो या श्रावक चाहिये कि जैनदर्शन के गूढ़ एवँ गम्भीर तत्त्वज्ञान, इतिहास आदि का तुलनात्मकशैली से सरल भाषा में निबन्धों और व्याख्यानों द्वारा प्रचार करे।

ये निबन्ध जनसाधारण के लिये अति उपयोगी हैं और इनसे हिन्दी जानने वाले महानुभाव भी लाभ उठा सकें इस विचार से हमने इनका हिन्दी भाषा में अनुवाद कराया है। आशा है कि हिन्दी भाषाभाषी महानुभाव इन निबन्धों को पढ़कर हमारे परिश्रम को सफल बनावेंगे।

अक्षयतृतीया १९९७
धर्म संवत् १८
भावनगर

प्रकाशक

॥ अर्हम् ॥

जगत्पूज्य-शास्त्रविशारद-जैनाचार्य-श्रीविजयधर्मसूरिगुरुदेवेभ्यो नमः ।

भाषणम् ।

अयि भाग्यवन्तः सभ्यमहोदयाः !

विदुषामस्यां विद्यापर्षदि कुतो यूयं मामेव समितिपतिं निर्मापयितुं निर्धारितवन्त इति यद्यपि नाहमवगच्छामि तथापीयदवश्यमेव व्याहरामि यदिमां पदवीं महानुभावाया ऽऽर्यसमाजविपश्चिते कस्मैचिददास्यत यूयं तर्हि समुचितमभविष्यत्, किन्तु महानुभावानां भवतां सज्जनानामनुरोधविशेषं परिहर्तुमक्षम इति भवदीयां प्रसत्तिमापादयितुं भवद्वितीर्णं पदमङ्गीकरोमि ।

यत् साम्प्रतिकानेककुमतान्यपि धर्मधियोपादीयन्ते

तत् तेषां परिवर्तनमेव 'धर्मपरावर्तनमीमांसायाः' तात्पर्य-मवधारयामि, यत आत्मधर्माणां परिवर्तनं तु कृतेऽपि प्रयत्ने न केनापि विधातुं शक्यते। अच्छेद्यऽभेद्यऽनाहार्य-ऽकषाय्यादय आत्मस्वरूपनिर्वचनपरा आत्मनो धर्माः सन्ति। तदेतेषां को वा कृती परिवर्तनं विधास्यति।

अधुना ये शैववैष्णवजैनबौद्धाऽऽदिव्यपदेशभाजोऽनेके धर्माः सन्ति तेषां परामर्शापेक्षया मनुष्य (जाति)-भेदानेव विचारयितुमहमावश्यकं मन्ये।

वाचकाचार्याः श्रीमदुमास्वातिनामधेया जैनाचार्य-शिरोमणयो मनुष्यभेदविषये सूत्रमेकमचकथन्। तथाहि—'मनुष्या द्विविधाः–आर्या म्लेच्छाश्च'। 'तत्र ऋच्छन्ति दूरीभवन्ति सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः'। इमां व्याख्यामव-लम्ब्य यद्यपि भवन्त एव आर्यानार्यपरामर्शं विधातुं शक्नुवन्ति तथापि विषयमिमं विशदीकर्तुं जैनागमनि-र्दिष्टानार्यभेदानेव संक्षेपतः प्रतिपादयामि। प्रज्ञापनासूत्रे प्रथमपदे वक्ष्यमाणसरण्या आर्याणां भेदाः प्रतिपादिताः। तत्र हि मूलभेदौ द्वौ–'ऋद्धिमानार्योऽनृद्धिमानार्यश्च।' य आत्मर्द्धिमान् स एवर्द्धिमानार्यः प्रोच्यते, नतु केवल-

प्रभूतद्युम्नवान् । तस्य चाऽऽत्मर्द्धिमत आर्यस्यार्हच्चक्रवर्त्तिबलदेववासुदेवजङ्घाचारणविद्याचारणरूपाः षट् प्रकाराः प्रदर्शितास्तत्रैव । अथानृद्धिमतामार्याणां क्षेत्रार्य-जात्यार्य-कुलार्य-कर्मार्य-शिल्पार्य-भाषार्य - ज्ञानार्य-दर्शनार्य - चारित्रार्यरूपा नवभेदाः ।

अयि श्रोतारो महानुभावाः ! एतानपरिचितनाम्नो भेदप्रभेदानाकर्ण्य नोद्विजध्वं, सर्वेषामप्यर्थोऽनुपदमेव स्पष्टीक्रियते । तत्र प्रथमतः क्षेत्रार्यमेव विवृणोमि । यद्यपि भरतक्षेत्रे द्वात्रिंशत्सहस्रसंख्याका देशाः सन्ति परं तेषु केवलं सार्धपञ्चविंशतिरेवाऽऽर्यदेशा गण्यन्ते, अवशिष्टाश्चानार्यदेशाः । नामान्यमीषां सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे पञ्चमाध्ययने टीकाकारेण श्रीमता कोट्याचार्येण प्रदर्शितानि । तानीह विस्तरभयाद् न प्रदर्श्यन्ते । तत्र वास्तव्याः क्षेत्रार्यपदव्यवहार्याः । १ ।

अम्बष्ठ-कलिन्द - वैदेह-वेदङ्ग - हरित- चुञ्चुणरूपाः मुख्यतया षड् भेदाः जात्यार्यस्य । २ । अथ तृतीयस्य कुलार्यस्यापि मुख्यतया षड् भेदाः । तद्यथा-उग्रकुलाः भोगकुलाः, राजन्यकुलाः, इक्ष्वाकुलाः, ज्ञातकुलाः, कौरव-

कुलाश्च । ३ । तुरीयाः कर्मार्याः शास्त्रेऽनेकप्रकारा वर्णिताः । तथाहि दौसिकाः, सौत्तिकाः, कार्पासिकाः, भण्डवैतालिकप्रभृतयः । ४ । पञ्चमे शिल्पाऽऽर्ये तन्तुवाय-सौचिक - पट्टकारदृतिकाराऽऽदीनां परिगणना । ५ । संस्कृतप्राकृतार्धमागधीविज्ञा भाषार्या उच्यन्ते । तत्र समष्टिव्यष्टिरूपेणाष्टादशभाषाभाषणरसिकाः सर्व एव भाषार्या भण्यन्ते । ६ । सप्तमस्य ज्ञानार्यस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानार्यरूपाः पञ्च भेदाः । ७ । एवं दर्शनार्यस्याप्यष्टमस्य सरागदर्शनार्य—वीतरागदर्शनार्यरूपेण द्वौ मुख्यभेदौ । अथ कारणे कार्योपचारात् सरागदर्शनार्यस्य दश प्रभेदाः । ते च निसर्गरुच्युपदेशरुच्याज्ञारुचि-सूत्ररुचिबीजरुच्यधिगमरुचिविस्ताररुचिक्रियारुचिसंक्षेप - रुचिधर्मरुचिरूपाः । नामनिर्देशेनैव प्रायः श्रोतॄणां भावार्थ-ज्ञानं समुत्पद्यत इति नात्र विवृणोमि । ८ । सच्छास्त्रनि-र्दिष्टसदाचारपालननिरताश्चारित्रार्याः कथ्यन्ते । ९ । अथ प्रकृतमनुसरामि ।

मयैतैर्निरूपितैर्भेदैर्भवतां विदितमेवाऽभूत् यदार्या भूरिभेदप्रभेदभिन्नाः । तदहं कस्यापि मनुष्यस्य कृते

एकान्ततो वक्तुं न शक्नोमि यदनार्य एवायम्। ततो यस्मिन् येन केनापि प्रकारेणार्यत्वमायाति तमात्मीयतया कथं न वयमङ्गीकुर्मः ?।

अस्मिन् समये ये नवीना विचारा जनानां चेतसि निबद्धास्ते साम्प्रतिकप्रथानुसारेण।

एतत्तु सर्वथा स्पष्टमेव प्रतिभाति यद् यथा यथा समयो व्यतीयाय तथा तथा मनुष्येषु परस्परं पार्थक्यं बभूव। निदर्शनमत्र गृहस्थगृहमेव। तत्र हि यद्येकस्य जनस्य द्वौ पुत्रौ जायेते तदा तयोरन्योन्यं घनिष्ठः सम्बन्धो विलोक्यते। ततस्तयोरपि सुताः समुत्पद्यन्ते। तत्र सत्यपि संबन्धनैकट्ये न तथा घनिष्ठता दृश्यते। तेषामपि सूनवो यदि भवन्ति तदा तेषां मूलपुरुषयोरन्यतरस्मिन् शिथिलः सम्बन्धोऽवलोक्यते। अत एव केचिन्मातृतः पञ्चमः पितृतः सप्तमः पृथगेवेति वदन्ति। एवं बहुषु कालेषु व्यतीतेषु गुणकर्मानुसारेण तत्तज्जातिरूपेण मनुष्या व्यभज्यन्त तदानीं तु युक्तमप्येतदासीत्। इदानीमेतादृशः समयः समापन्नो यस्मिन् यदि काचिद् व्यक्तिः समाजो वा कश्चित् सजातीयो विजातीयो वा पूर्वं स्वस्वगुण-

कर्माणि विस्मृत्य पातित्यमलब्ध तस्य स्वमुद्धर्तुं परान् वा समुद्धर्तुं पूर्णोऽधिकारः। यत आत्मोद्धारस्याधिकारो न चैकस्यैव कस्यचित् पुरुषस्य समाजस्य वाऽधीनः, किन्तु सर्वेषामेव प्राणिनाम्। कश्चिदपि पुरुषो यदि नैजान् दुर्गुणान् दुष्कर्माणि च परित्यज्य सद्गुणी सुकर्मण्यो वा बुभूषति तर्हि स पुनर्निजोद्धारं किं न कुर्यात् ?। यदैव हेयगुणकर्माणि विहाय तस्मिन् जने शुद्धता समायाति तदा तस्मिन्नार्यत्वमप्यायाति।

आर्यशब्देन कश्चित् समाजः सम्प्रदायो वा न ममाभिप्रेतः किन्तु हेयधर्मान् निरस्य यः कोऽपि सद्गुणसुकर्माणि स्वीकरोति स एवाऽऽर्यपदव्यपदेशभाक्। स च यस्मिन् कस्मिन्नपि समाजे संप्रदाये जातौ वा तिष्ठतु सद्भिराऽऽर्य एव गण्यते।

संसारे सर्व एव मनुष्याः सद्गुणसुकर्मभाजो भवन्त्वार्याः, निजोद्धारं च विदधतु इति मम हार्दिकमभिलषितमेतावदेव अभिधाय विरम्यते मया।

श्रीमन्तो भवन्तः सहावधानेन यन्मम भाषणमशृण्वन् तदर्थमहं धन्यवादान् दिशामि।

गुरुकुल वृन्दावन
ता० २४-१२-२३
धर्म सम्वत् २,

ॐ शान्तिः शान्तिः सुशान्तिः।

विजयेन्द्रसूरिः

वृन्दावन गुरुकुल के उत्सव पर विद्यापरिषद् के सभापतिपद से संस्कृत में दिये हुए भाषण का

अनुवाद

हे भाग्यशाली सभ्यमहोदयगण !

यद्यपि मैं इस बात को नहीं जान सकता कि विद्वानों की इस विद्यापरिषद् का मुझे आप ने सभापति क्यों चुना है ? तथापि मैं इतना तो अवश्य ही कहूँगा कि यदि इस पद से किसी आर्यसमाजी महाशय को सुशोभित किया जाता तो विशेष उपयुक्त होता। किन्तु मैं आप सज्जनों के अनुरोध को उल्लंघन करने में असमर्थ होने के कारण आप सज्जनों के द्वारा दिये गये पद को स्वीकार करता हूँ।

आज की सभा का उद्देश्य 'धर्मपरावर्तनमीमांसा' रखा गया है। इसका तात्पर्य मैं तो यही समझता हूँ कि वर्त्तमान समय में जो अनेक प्रकार के कुमत अपने आपको

धर्म के नाम से प्रसिद्ध कर रहे हैं—उनका परिवर्त्तन करना। मेरी तो यह धारणा हैं कि चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय तो भी आत्मधर्म का परिवर्त्तन कदापि नहीं हो सकता। अच्छेदी-अभेदी-अनाहारी-अकषायी आदि-आत्म-स्वरूप को प्रकट करने वाले आत्मा के धर्म हैं। ऐसे आत्म-धर्मों का परिवर्त्तन कैसे हो सकता है?

वर्त्तमान समय में शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि के नाम से अनेक धर्म प्रसिद्ध हैं। इन धर्मों के विचार की अपेक्षा से मैं यहाँ पर मनुष्य जाति के भेदों का विचार करना आवश्यक समझता हूँ।

जैनाचार्य शिरोमणी वाचकाचार्य श्रीउमास्वाति ने मनुष्यों का भेद बताने वाला एक सूत्र कहा है:— 'मनुष्या द्विविधाः आर्या म्लेच्छाश्च'। 'तत्र ऋच्छन्ति दूरी भवन्ति सर्वहेयधर्मेभ्यः इत्यार्याः'। इस व्याख्या को लक्ष्य में रखकर आप सब आर्य-अनार्य का विचार कर सकते हैं; तथापि इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये जैनागम में बतलाये हुए आर्य के भेदों का मैं संक्षेप से वर्णन करूँगा। श्रीप्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद में आर्य के इस प्रकार भेद बतलाये गये हैं:—

मूल दो भेद—ऋद्धिमान् आर्य, अनृद्धिमान् आर्य। जो आत्मऋद्धि वाला होता है वह ही ऋद्धिमान आर्य कहलाता

है न कि बहुत धनसम्पन्न। इस आत्मऋद्धिमान् आर्य के अर्हन्, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, जंघाचारण तथा विद्या-चारण—इस प्रकार छः भेद हैं। अनृद्धिमान् आर्य के क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य, भाषार्य, ज्ञानार्य, दर्शनार्य तथा चारित्रार्य इस प्रकार नव भेद हैं।

महानुभावो! इन अपरिचित भेद-प्रभेदों को सुनकर आप आश्चर्य न करें। मैं इन सब का अर्थ अनुक्रम से आपको बताता हूँ। प्रथम क्षेत्रार्य—यद्यपि भरत क्षेत्र में ३२ हज़ार देश हैं, परन्तु उनमें केवल साढ़े पच्चीस देश ही आर्य माने गये हैं। इनके नाम सूत्रकृताङ्ग-सूत्र में प्रथम श्रुतस्कंध के पाँचवें अध्ययन के टीकाकार श्रीकोट्याचार्य ने बतलाये हैं। वे नाम विस्तार भय से मैं यहाँ पर नहीं बतलाना चाहता। उन देशों में रहने वाले क्षेत्रार्य पद से व्यवहृत होते हैं। जात्यार्य के छः भेद हैं—अम्बष्ठ, कलिन्द, वैदेह, वेदंग, हरित एवं चुंचुण। तीसरे कुलार्य के मुख्य छः भेद हैं उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाकुकुल, ज्ञातकुल, कौरव-कुल। चौथे कर्मार्य के अनेक भेद शास्त्र में कहे हैं—जैसे कि दौसिक, सौत्तिक, कार्पासिक, भंडवैतालिक इत्यादि। पाँचवें शिल्पार्य के—तंतुवाय, सौचिक, पट्टकार तथा दृति-कारादि का समावेश होता है। संस्कृत, प्राकृत और अर्द्ध-मागधी को जानने वाला भाषा आर्य कहलाता है। इसमें समष्टि—व्यष्टि रूप से अठारह भाषाओं के जो रसिक हों वे

सब भाषार्य कहलाते है। सातवें ज्ञानार्य के—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, केवल ज्ञानार्य रूप पाँच भेद हैं। इसी प्रकार दर्शनार्य के भी—सरागदर्शनार्य, वीतरागदर्शनार्य रूप मुख्य दो भेद हैं। कारण में कार्य का उपचार करने से—सरागदर्शनार्य के दश प्रभेद हैं। वे इस प्रकार हैं—निसर्गरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अधिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि तथा धर्मरुचि। नाम निर्देश मात्र से ही श्रोताओं को भावार्थ का ज्ञान हो गया होगा, इसलिये मैं इसका वर्णन नहीं करता। अन्त में सच्छास्त्र में बतलाए हुए सदाचार के पालन में जो रक्त होते हैं वे चारित्रार्य कहलाते हैं।

अब मैं प्रस्तुत विषय पर आता हूँ :—

महानुभावो ! मेरे बतलाये हुए उपर्युक्त भेदों से आप समझ गये होंगे कि आर्य अनेक भेदों में विभक्त हैं। अतः एव मैं किसी भी मनुष्य के लिये एकान्त से ऐसा नहीं कह सकता कि वह अनार्य ही है। इसलिये जो नाम किसी भी प्रकार से आर्यत्व प्रगट करता हो उसको आत्मीय समझ कर क्यों न अपनाया जाय ? अर्थात् अवश्य अपनाना चाहिये।

मनुष्यों के चित्त में जो विचार वर्त्तमान समय में दृढ़ता को पाये हुए हैं, वे साम्प्रतिक प्रथा के अनुसार ही हैं।

यह बात तो स्पष्ट ही ज्ञात होती है कि—जैसे जैसे समय व्यतीत होता जाता है, वैसे वैसे मनुष्यों में भिन्नता उत्पन्न

होती जाती है। गृहस्थघर इस बात का दृष्टांत है। एक मनुष्य के यहाँ दो पुत्र उत्पन्न होते हैं तब उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई देता है।

तत्पश्चात् इन दोनों के यहाँ जो पुत्र उत्पन्न होते हैं उनमें निकटता का सम्बन्ध होते हुए भी पहिले के समान घनिष्ठता दिखाई नहीं देती। तथा इनके जो पुत्र होते हैं उनका मूल दो पुरुषों से किसी एक में शिथिल सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। अतःएव कोई माता से पाँचवाँ तथा पिता से सातवाँ पृथक ही कहलाता है। इस प्रकार बहुत काल व्यतीत होने पर गुण कर्मानुसार भिन्न भिन्न जाति रूप में मनुष्य विभक्त हो जाते हैं और ऐसी अवस्था में वे विभाग पड़ने उचित ही थे। यदि किसी समय में कोई व्यक्ति या समाज अथवा कोई सजातीय या विजातीय मनुष्य अपने गुण कर्मों को भूल कर पतितावस्था को प्राप्त हो गया हो तो उसका उद्धार करने तथा कराने का प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण अधिकार है। क्योंकि आत्मोद्धार का अधिकार किसी एक व्यक्ति अथवा समाज के आधीन नहीं है; किन्तु समस्त प्राणियों को इसका अधिकार है। कोई भी मनुष्य यदि अपने दुर्गुणों को दूर करके—त्याग करके सद्गुणी तथा सुकर्मी हो तो फिर वह अपना उद्धार क्यों नहीं कर सकता? जब त्याज्य गुण कर्मों को त्याग कर किसी मनुष्य में शुद्धता आवे तब उसमें आर्यत्व भी आ ही जाता है।

डा० जेकोबी, डा० पेटोंल्ड, डा० स्टीनकोनो, डा० हेलमाऊथ, डा० हर्टल एवं दूसरे अनेक विद्वान जैनतत्त्वज्ञान तथा साहित्य का अभ्यास और प्रकाश यूरोपादि देशों में कर रहे हैं।

प्राचीनता

जैनधर्म प्राचीन होने का दावा करता है। जगत् के धार्मिकइतिहास की तरफ़ दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि—हज़रत मूसा ने यहूदीधर्म चलाया। कन्फयुसीअस (जो कि चीनदेश का प्राचीनधर्म संस्थापक प्रवर्तक हो गया है उस) ने कन्फयुससधर्म की स्थापना की। महात्मा ईसा (क्राईस्ट) ने ईसाईधर्म प्रारंभ किय। हज़रत मुहम्मद ने मुसलिमधर्म शुरु किया। महात्मा बुद्ध ने बुद्धधर्म संस्थापन किया। तथा महान् जरथोस्त ने पारसीधर्म की नींव डाली। परन्तु इसमें सन्देह जैसी कुछ भी बात नहीं है कि इन सब से पहिले अर्थात् आज से २४५१ वर्ष पहले **भगवान् महावीर ने** प्राचीन काल से चले आते **जैनधर्म का प्रचार किया** इस लिये जैनधर्म की दृष्टि से ये सब धर्म आधुनिक गिने जा सकते हैं। अब मात्र ब्राह्मणधर्म (वैदिक धर्म) तथा जैनधर्म ये दोनों प्राचीन धर्म गिने जाते हैं इस लिये अब इन धर्मों के सम्बन्ध में कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

बौद्ध के धर्म ग्रंथ-पिटक ग्रंथ **महावग्ग** और **महापरि-निब्बाण सुत्त** आदि भी जैनधर्म और महावीर स्वामी के

होती जाती है। गृहस्थघर इस बात का दृष्टांत है। एक मनुष्य के यहाँ दो पुत्र उत्पन्न होते हैं तब उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई देता है।

तत्पश्चात् इन दोनों के यहाँ जो पुत्र उत्पन्न होते हैं उनमें निकटता का सम्बन्ध होते हुए भी पहिले के समान घनिष्ठता दिखाई नहीं देती। तथा इनके जो पुत्र होते हैं उनका मूल दो पुरुषों से किसी एक में शिथिल सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। अतःएव कोई माता से पाँचवाँ तथा पिता से सातवाँ पृथक ही कहलाता है। इस प्रकार बहुत काल व्यतीत होने पर गुण कर्मानुसार भिन्न भिन्न जाति रूप में मनुष्य विभक्त हो जाते हैं और ऐसी अवस्था में वे विभाग पड़ने उचित ही थे। यदि किसी समय में कोई व्यक्ति या समाज अथवा कोई सजातीय या विजातीय मनुष्य अपने गुण कर्मों को भूल कर पतितावस्था को प्राप्त हो गया हो तो उसका उद्धार करने तथा कराने का प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण अधिकार है। क्योंकि आत्मोद्धार का अधिकार किसी एक व्यक्ति अथवा समाज के आधीन नहीं है; किन्तु समस्त प्राणियों को इसका अधिकार है। कोई भी मनुष्य यदि अपने दुर्गुणों को दूर करके—त्याग करके सद्गुणी तथा सुकर्मी हो तो फिर वह अपना उद्धार क्यों नहीं कर सकता? जब त्याज्य गुण कर्मों को त्याग कर किसी मनुष्य में शुद्धता आवे तब उसमें आर्यत्व भी आ ही जाता है।

आर्यशब्द से मेरा अभिप्राय किसी समाज अथवा संप्रदाय से नहीं है किन्तु हेयधर्मों को छोड़ कर जो कोई भी सद्गुणों—सत्कर्मों को स्वीकार करे वही आर्य कहला सकता है। वह किसी भी समाज, सम्प्रदाय या जाति में क्यों न हो, उसको सज्जन लोग आर्य ही मानते हैं।

संसार के सभी मनुष्य सद्गुणों और सत्कर्मों को प्राप्त करें एवं अपना उद्धार करें—यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है। इतना कह कर मैं अपना भाषण समाप्त करता हूँ।

आप सब ने सावधानता पूर्वक मेरा भाषण सुना है, इसलिये मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः सुशान्तिः

ता० २४-१२-२३
धर्म सं० २

श्रीविजयेन्द्रसूरि

॥ अर्हम् ॥

श्रीमद्दयानन्दजन्मशताब्दि मथुरा के महोत्सवपर सर्वधर्मपरिषद् में "जैनदर्शन" पर पढ़ा हुआ

निबन्ध

सज्जनमहोदयगण तथा बहनो !

श्रीमद् दयानन्द जन्मशताब्दि महोत्सव पर जो सर्वधर्मपरिषद् की योजना की गई है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय तथा भारतवर्ष के इतिहास में स्मरणीय रहेगी।

पूज्यपादस्वर्गस्थशास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीमद् विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज—जिन्होंने अपनी आयु का अमूल्य समय देश देशान्तरों में जैनधर्म का और जैनसाहित्य का विस्तृत प्रचार करने में व्यतीत किया था; उनके पट्टधर इतिहासतत्त्वमहोदधिश्रीमद् आचार्यविजयेन्द्रसूरीजी ने अपने इस निबन्ध को पढ़ने के लिये जैनधर्म के मेरे जैसे अभ्यासी को जो अमूल्य अवसर दिया है, इसके लिये मैं आचार्यश्री का उपकार मानते हुए अपनी आत्मा को धन्य समझता हूँ। इतना कह कर अब मैं आचार्य महाराज का निबन्ध पढ़ता हूँ।

[*दोसी फूलचन्द हरिचन्द-महुआ*]

सज्जनो !

'जैनदर्शन' एक स्वतंत्र दर्शन है। जैनदर्शन में तत्त्व-ज्ञान, साहित्य और इतिहास-समृद्ध, सम्पूर्ण और जैनेतर समग्रसाहित्य के अभ्यासियों को भी आकर्षित करने योग्य है। इस सम्बन्ध में एक जर्मन विद्वान डा० हर्मन जेकोबी कहता है कि :—

In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others, and that, therefore it is of great importance for the study of Philosophical thought and religious life in ancient India.

(Read in the congress of the History of religion).

उपसंहार में मुझे कहना चाहिये, कि जैनधर्म एक आद्य-कालिक दर्शन है, यह अन्य सर्व दर्शनों से सर्वथा भिन्न एवं स्वतंत्र है, और इसलिये यह प्राचीन भारतवर्ष की तात्त्विक विचार धारा तथा धार्मिकजीवन श्रेणी में अध्ययन करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। यह मेरी निश्चित प्रतीति है।

(सर्वधर्मइतिहासपरिषद् में पढ़े गये निबन्ध में से)

एक समय ऐसा था जब कि जैनधर्म के सम्बन्ध में बड़े बड़े विद्वानों तक में भी भारी अज्ञानता थी। कुछ लोगों की मान्यता थी कि जैनधर्म, बुद्धधम अथवा ब्राह्मणधर्म की

सम्बन्ध में कई प्रसंगों का वर्णन तो कर ही रहे हैं, परन्तु इनके सिवाए **महाभारत** एवं **रामायणादि** में भी जैनधर्म सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं। सारांश यह है कि हिन्दुधर्मशास्त्रों और पुराणों में भी इसके सम्बन्ध में उल्लेख पाये जाते हैं।

जैनधर्म के आदि तीर्थंकर **श्रीऋषभदेव** का वर्णन **श्रीमद् भागवत** के पांचवे स्कन्ध के तीसरे अध्याय में पाया जाता है। यह ऋषभदेव भरत के पिता थे कि जिन के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा था। भागवत के कथानुसार ऋषभदेव साक्षात् विष्णु का अवतार थे। इससे भी आगे बढ़ कर देखें तो **वेदों में भी जैन तीर्थंकरों के नाम आते हैं।** ये कोई बनावटी नाम नहीं हैं परन्तु जैनों के माने हुए २४ तीर्थंकरों के नामों में से ही हैं जो कि विद्वान इतिहासवेत्ताओं की शोध के परिणाम स्वरूप सिद्ध हो चुके हैं।

ऊपर दिये गये प्रमाणों पर से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदों में भी तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख पाया जाता है इन तीर्थंकरों को जैन लोग देव मानते हैं। इस लिये यह कहना किंचिन्मात्र भी अतिशयोक्ति न होगा कि—**वेदरचना के काल से पहिले भी जैनधर्म अवश्य था।**

Dr. Guerinot कहता है—

There can no longer be any doubt that Parsva was a Historical personage. According to the Jain Tradition, he must have lived a hundred

years and died 250 years before Mahavir. His period of activity, therefore corresponds to the 8th century B. C.

The Parents of Mahavir were followers of the religion of Parsva.………The age, we live in, there have appeared 24 prophets of Jainism. They are ordinarily called Tirthankars. with the 23rd Parsvanath we enter into the region of History and reality.

(Introduction to his Essay on Jain Bibliography.)

यह बात निःसन्देह है कि श्रीपार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे। उनकी आयु एक सौ वर्ष की थी तथा महावीर-स्वामी से अढ़ाई सौ वर्ष पहले निर्वाण पाये थे, यह बात जैन परम्परा से सिद्ध होती है। इस प्रकार इनका जीवन काल ई० स० पूर्व की आठवीं शताब्दि सिद्ध होता है।

श्रीमहावीर के माता पिता भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी थे……… सद्यकाल में—(इस अवसर्पिणी काल में) जैनों के २४ अवतार हुए हैं। जैनों के इन महापुरुषों को तीर्थंकर कहा जाता है। तेईसवें तीर्थङ्कर श्रीपार्श्वनाथ के काल से हमारा अकल्पित और ऐतिहासिक प्रदेश में प्रवेश होता है।

(जैनग्रंथ विद्याविषयक-निबन्ध का उपोद्घात।)

इन सब प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो जाती है। कि जैनधर्म अतिप्राचीन धर्म है। महावीरस्वामी जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर हुए हैं और वे बुद्ध के समकालीन थे। ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर हो गये हैं तथा उनका जन्म काल अत्यन्त प्राचीन है।

तत्त्वज्ञान

मुझे निष्पक्षपात पूर्वक कहना चाहिये कि—जैनधर्म का तत्त्वज्ञान, इसकी धर्म और नीति मीमांसा, इसका कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र एवँ चारित्रविवेचन बहुत उच्च श्रेणी का है। जैनदर्शन में अध्यात्म, मोक्ष, आत्मा और परमात्मा, पदार्थ विज्ञान एवँ न्याय के विषय में स्पष्ट, व्यवस्थित तथा बुद्धिगम्य विवेचन पाया जाता है। जैनतत्त्वज्ञान इतना गम्भीर, महत्व का और तुलनात्मक दृष्टि से लिखा गया है कि मध्यस्थता पूर्वक पढ़ने वालों को तथा अभ्यासियों को यह (तत्त्वज्ञान) सम्पूर्ण प्रतीत हुए बिना कदापि नहीं रह सकता; मात्र इतना ही नहीं परन्तु इसके अभ्यास से हृदय में एक प्रकार का अपूर्व आनन्द उत्पन्न होता है।

जिन जिन विद्वानों ने जैनदर्शन का तुलनात्मक अभ्यास किया है, वे इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते।

जगत क्या वस्तु है ? वह मात्र दो तत्त्व जड़ और चेतन

रूप मालूम होता है—अखंड ब्रह्मांड के समग्र पदार्थ इन दो तत्त्वों में ही आ जाते हैं।

जिसमें चैतन्य नहीं है—अनुभव करने की शक्ति नहीं है, वह जड़ है। तथा इससे विपरीत लक्षण वाला चैतन्य स्वरूप आत्मा है। आत्मा में ही अनुभव करने की शक्ति है, इसे जीव भी कहते हैं। ज्ञानशक्ति यह आत्मा का मुख्य लक्षण है। चेतनालक्षणो जीवः।

जैनतत्त्वज्ञान यहाँ तक आगे बढ़ा है कि पृथ्वी को, जल को, अग्नि को, वायु को और वनस्पति को जीवमय मानता है। जीवों के मुख्य त्रस और स्थावर इस प्रकार दो भेद हैं। स्थावर के दो भेद हैं सूक्ष्म और बादर। वर्त्त-माण विज्ञानिकों की भी मान्यता है कि तमाम पोलापन (आकाश) सूक्ष्म जीवों से भरा पड़ा है, इनकी मान्यतानुसार सब से छोटा थेकसस नामक प्राणी है जो कि एक सूई के अग्रभाग पर एक लाख सरलता पूर्वक बैठ सकते हैं।

प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता प्रोफ़ेसर जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति के पौधों पर प्रयोग कर के यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति के पौधों में क्रोध, लोभ, ईर्षा आदि संज्ञाएँ भी होती हैं और जीव भी होता है। यह बात जैनदर्शन ने हज़ारों वर्ष पहले बताई है। जब कि किसी भी प्रकार के

यंत्रों आदि के साधन नहीं थे उस समय तीर्थंकरों ने अपने ज्ञान द्वारा बतलाया था।

ऐसा अनुमान करने के बहुत कारण हैं कि अब वह समय आ रहा है जब कि जगत को जैनदर्शन के अनेक सिद्धान्तों को स्वीकार करना पड़ेगा।

जीव और अजीव के सिवाय **पुण्य-पाप** (शुभ कर्म और अशुभ कर्म), **आश्रव** (आश्रीयते कर्म अनेन—आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध कराने वाले कारण), **संवर** (आते हुए कर्मों को रोकने के कारण), **बन्ध** (आत्मा के साथ कर्म का बन्ध होना), **निर्जरा** (कर्म का क्षय) तथा **मोक्ष** (मुक्ति) ये सात मिलकर कुल नव तत्त्व जैनदर्शन ने माने हैं।

सारी जैन फिलोसोफ़ी **कर्म** पर निर्भर है। आत्मा और कर्म इन दोनों का अनादि सम्बन्ध है। मूल स्वरूप से तो आत्मा सच्चिदानन्दमय है, परन्तु कर्मों के आवरण वशात् इसका मूल स्वरूप आच्छादित है। जैसे जैसे कर्मों का नाश होता जाता है वैसे वैसे इसका वास्तविक स्वरूप प्रकट होता जाता है तथा सर्वथा कर्मों का नाश होने से आत्म स्वरूप का साक्षात्कार अर्थात् मोक्ष के अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

जीव जैसा जैसा कर्म करता है उसे वैसा वैसा फल भोगना पड़ता है, इसलिये जब तक कर्म का सर्वथा नाश न

हो जाय तब तक इस जीव को जन्म-जरा-मरणादि के दुःख भोगने पड़ते हैं।

मोक्ष के साधन।

जैनदर्शन सम्यग्दर्शन (Right belief) सम्यग्ज्ञान (Right knowledge) तथा सम्यक्चारित्र (Right charactor) इस त्रिपुटी को मोक्ष का साधन मानता है। इस त्रिपुटी को रत्न त्रय भी कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः दिया गया है। यही मोक्ष का मार्ग है। जैनदर्शन आत्मा को नित्य मानता है तथा जैनशास्त्र की मान्यता है कि कर्मों का क्षय कर अखंड आनन्द—मोक्ष सुख प्राप्त करने वाली आत्माएं पुनः अवतार (जन्म) नहीं लेतीं। यद्यपि तीर्थंकरों के जन्म से यह बात सिद्ध होती है कि—जब जब जगत में अनाचार और दुःख बढ़ जाते हैं; तब तब महान् आत्माएं अवश्य जन्म लेती हैं और जगत को सन्मार्ग बताती हैं तथापि इस बात का ध्यान रहे कि मुक्त आत्माएं जिनको संसार में वापिस आने का कोई कारण ही नहीं है वे संसार में फिर से जन्म नहीं लेती, परन्तु इन के सिवाय चार गति में भ्रमण करने वाली आत्माओं में से ही ऐसे महान् पुरुषों का जन्म होता है।

श्रीगीता जी का कर्मयोग-यह जैन परिभाषा में पुरुषार्थ है। जैनदर्शन कर्मवादी होने का उपदेश नहीं देता,

परन्तु आत्मा किसी की भी सहायता के बिना, निज पुरुषार्थ बल से जीवनमुक्त (कैवल्य) अवस्था प्राप्त करता है ऐसा उपदेश देता है। आत्मा सम्पूर्ण आत्मज्ञान द्वारा (कैवल्य ज्ञान से) जगत के सर्व भावों को जान और देख सकती है एवं उसके पश्चात् वह मोक्षपद को प्राप्त करती है। मुक्त आत्माओं को निर्मल आत्म ज्योति में से परिस्फूरित जो स्वभाविक आनन्द है वही आनन्द वास्तविक सुख है। ऐसी आत्माओं के शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध, निरंजन, परमब्रह्म इत्यादि नाम शास्त्रों में कहे हैं।

ईश्वर

ईश्वर के सम्बन्ध में जैन शास्त्र एक नवीन ही दिशा का सूचन करते हैं। इस विषय में जैनदर्शन हरेक दर्शन से प्रायः जुदा पड़ जाता है, यह इस दर्शन की एक विशिष्टता है। *परिक्षीणसकलकर्मा ईश्वरः* । जिसके सकल कर्मों का क्षय हो चुका है, ऐसी आत्मा परमात्मा बनती है। जो जीव आत्म स्वरूप के विकास के अभ्यास से आगे बढ़ कर परमात्मा की स्थिति में पहुंचता है वही ईश्वर है। यह जैनशास्त्रों की मान्यता है। हां, परमात्मस्थिति को प्राप्त किये हुए सब सिद्ध परस्पर एकाकार हैं, एक समान गुण और शक्तिवाले होने के कारण समष्टिरूप से इनका 'एक शब्द' से भी व्यवहार हो सकता है।

विचार शील विद्वानों को अपनी तरफ अधिक आकर्षित करनेवाला जैनधर्म का एक सिद्धान्त और भी है। वह यह है कि **ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है** । वीतराग ईश्वर न तो किसी पर प्रसन्न ही होता है और न किसी पर अप्रसन्न होता है क्योंकि उसमें राग द्वेष का सर्वथा अभाव है। संसार चक्र **से निर्लेप** परम कृतार्थ ईश्वर को जगत कर्त्ता होने का क्या कारण ? प्रत्येक प्राणी के सुख दुःख का आधार उसकी कार्य सत्ता पर है। सामान्य बुद्धि से ऐसा कहा जाता है कि जब संसार की सब वस्तुएँ किसी के बनाये बिना उत्पन्न नहीं होती तो जगत भी किसी ने बनाया होगा ? लोगों की यह धारणा मात्र ही है क्योंकि सर्वथा राग, द्वेष, इच्छा आदि से रहित परमात्मा (ईश्वर) को जगत बनाने का कुछ भी कारण नहीं दीख पड़ता तथा ऐसे ईश्वर को जगत का कर्त्ता मानने से उसमें अनेक दोषारोप आ जाते हैं

हां, एक प्रकार से ईश्वर को जगत कर्त्ता कह भी सकते हैं :—

"परमैश्वर्ययुक्तत्वाद् मत आत्मैव वेश्वरः ।
स च कर्त्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥"

(श्रीहरिभद्रसूरि)

भावार्थ—परमैश्वर्य युक्त होने से आत्मा ही ईश्वर माना जाता है और इसे कर्ता कहने में दोष नहीं है क्योंकि आत्मा में कर्तृवाद (कर्तापन) रहा हुआ है।

यह बात नहीं है कि मात्र जैनलोग ही ईश्वर को कर्ता हर्ता नहीं मानते परन्तु वैदिक मत में भी कई सम्प्रदाय ईश्वर को कर्ता नहीं मानते। देखो वाचस्पतिमिश्र रचित **सांख्यतत्त्व-कौमुदी ५७ कारिका।**

स्याद्वाद।

प्रमाण पूर्वक जैनशास्त्रों में एक सिद्धान्त ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि जिसके सम्बन्ध में विद्वानों को आश्चर्य चकित होना पड़ता है। यह सिद्धान्त स्याद्वाद है। **एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या नानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वादः।** एक वस्तु में अपेक्षा पूर्वक विरुद्ध जुदा जुदा धर्मों को स्वीकार करना; इसका नाम **स्याद्वाद** है। जब मनुष्य कुछ बोलता है तब उसमें उस वचन के सिवाय दूसरे विषय सम्बन्धी सत्य अवश्य रहता है। जैसे कि "वह मेरा भाई है।" जब मैं इस प्रकार बोलता हूं कि वह मेरा भाई है तो क्या वह किसी का पुत्र नहीं है? अवश्य है। इसी प्रकार वह किसी का चाचा है, किसी का मामा है और किसी का बाप भी है। प्रत्येक वस्तु को अपेक्षा से नित्यानित्य मानना अर्थात् सर्व पदार्थ **उत्पाद, विनाश** और **स्थायी** स्वभाव वाले हैं ऐसा निश्चित होता है। वस्तु मात्र में सामान्यधर्म और विशेषधर्म रहा हुआ है। सारांश यह है कि एक ही वस्तु में अपेक्षा से अनेक धर्मों की विद्यमानता स्वीकार करने का नाम **स्याद्वाद** है। विशाल

दृष्टि से दर्शन शास्त्रों को अवलोकन करनेवाले भली भांति समझ सकते हैं कि—प्रत्येक दर्शनकार को एक अथवा दूसरे प्रकार से स्याद्वाद को स्वीकार करना ही पड़ता है। समयाभाव के कारण मात्र संक्षेप में ही प्रत्येक विषय की रूप रेखा आप लोगों के सामने उपस्थित करता हूं।

जैनसाहित्य।

अब जैनसाहित्य सम्बन्धी जरा दृष्टिपात करें :

जैन साहित्य विपुल, विस्तीर्ण और समृद्ध हैं। कोई भी ऐसा विषय नहीं मिलेगा कि जिस पर रचे हुए अनेक ग्रंथ जैन साहित्य में न मिलें, मात्र इतना ही नहीं परन्तु इन विषयों की चर्चा बहुत उत्तमता के साथ विद्वता पूर्ण दृष्टि से की गई है।

जैनदर्शन में प्रधान ४५ शास्त्र हैं जो कि सिद्धान्त अथवा आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद, ४ मूलसूत्र, १० पयन्ना, तथा २ अवांतर सूत्र आते हैं।

प्राचीन समय में शास्त्र लिखने—लिखाने का रिवाज नहीं था। साधु लोग परम्परा से आये हुए ज्ञान को कंठाग्र रखते थे। जैसे जैसे समय व्यतीत होता गया वैसे वैसे इसे पुस्तकारूढ़ करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। आगमों में जो बोध है वह महावीरस्वामी के जीवन, कथन तथा उपदेश का सार है। यह सारा जैनसाहित्य द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग,

धर्मकथानुयोग, चरणकरणानुयोग इन चार विभागों में विभाजित है।

गणित सम्बन्धी चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, तथा लोक— प्रकाशादि ग्रंथ इतने अपूर्व हैं कि उनमें सूर्य, चन्द्र, तारा मंडल, असंख्य द्वीप, समुद्र, स्वर्गलोक, नरकभूमियों वगैरह की बहुत बातों का वर्णन मिलता है।

हीरसौभाग्य, विजयप्रशस्ति, धर्मशर्माभ्युदय, हम्मीर महाकाव्य, पार्श्वाभ्युदय काव्य, यशस्तिलक चम्पू इत्यादि काव्य ग्रंथ ; सन्मतितर्क, स्याद्वादरत्नाकार, अनेकान्तजयपताका आदि न्याय ग्रंथ ; योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय वगैरह योग ग्रंथ ; ज्ञानसार, अध्यात्मसार, अध्यात्मकल्पद्रुम आदि आध्यात्मिक ग्रंथ ; सिद्धहेमचन्द्र आदि व्याकरण ग्रंथ ; आज भी सुप्रसिद्ध हैं। प्राकृतसाहित्य में ऊँचे से ऊँचा साहित्य यदि किसी में है तो वह जैनदर्शन में ही है। जैन न्याय, जैनतत्त्व ज्ञान, जैननीति, तथा अन्य अन्य विषयों के गद्य-पद्य के अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ जैनसाहित्य में भरे पड़े हैं।

व्याकरण तथा कथासाहित्य तो जैनसाहित्य में अद्वितीय ही है। जैनस्तोत्र, स्तुतियां, पुरानी गुजराती भाषा के रास आदि अनेक दिशाओं में जैनसाहित्य फैला हुआ है। जैन साहित्य के लिये प्रो० जोहन्स हर्टल लिखता है कि :—

They (Jains) are the creators of very extensive popular literature.

अर्थात्—जैन लोग बहुत विस्तृत लोकोपयोगी (लोग भोग्य) साहित्य के स्रष्टा हैं।

प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, हिन्दी तथा तामिल भाषा में भी जैनसाहित्य पुष्कल लिखा हुआ है।

श्रीमद् सिद्धसेनदिवाकर, श्रीमद् हरिभद्रसूरि, श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य, उपाध्याय यशोविजयजी, उपाध्याय विनयविजय जी आदि अनेक जैनाचार्यों ने जैनसाहित्य को समृद्ध बनाने में अपने जीवन को व्यतीत किया है।

अंतिम २५-३० वर्षों से जब से जैनसाहित्य विशेष प्रचार में आने लगा है तब से इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, इटली और चीन में जैनसाहित्य का खूब प्रचार हो रहा है। आज तो स्वर्गस्थ गुरुदेव जैनाचार्य **श्रीमद् विजयधर्मसूरि महाराज** के महान् कार्यों से अनेक विद्वान देश देश में जैनसाहित्य का अभ्यास और प्रचार कर रहे हैं।

मेरा दृढ़ निश्चय है कि जैसे जैसे जैनसाहित्य अधिक प्रमाण में पढ़ा जायगा एवं तुलनात्मक दृष्टि से इसका अभ्यास किया जायगा वैसे वैसे इसमें से मधुर सुगंधी जगत के रंग मंडप में फैलती जायगी—जिससे कि जगत में वास्तविक अहिंसाधर्म का प्रचार होगा।

जैन इतिहास—कला।

जैन तथा अजैन विद्वानों का ध्यान जैनइतिहास की तरफ़ अभी तक इतना आकर्षित नहीं हुआ जितना कि होना चाहिए

था। गुजरात के इतिहास का मूल जैनइतिहास में है। यदि ऐसा कहें तो अनुचित न होगा कि जैनों ने ही गुजरात के इतिहास की रक्षा की है। अनेक प्राचीन शिलालेखों, पट्टकों, मूर्त्तियों, ग्रंथों, सिक्कों और तीर्थस्थानों में जैनइतिहास के स्मरण मिल आते हैं। जैन राजा खारवेल की गुफ़ाएँ, आबू पर के मंदिरों की कलामय चित्रकला, शत्रुंजयपर्वत के मंदिर जैनों के स्थापत्य शिल्पकला के संबन्ध में श्रेष्ठता के प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं। जैन राजा और मंत्री भी अनेक हो गये हैं।

संप्रति, श्रेणिक, कूणिक, कुमारपाल, आदि राजा तथा वस्तुपाल, तेजःपाल, भामाशाह, मुंजाल, चांपाशाह इत्यादि जैसे कुशल राज्य प्रबंधक मंत्री आज भी जैन इतिहास के रंग मंडप में अपूर्व भाग ले रहे हैं।

अहिंसा।

"अहिंसा" यह जैनधर्म का जगत को अद्भुत सन्देश है। जगत के सब धर्मों में "अहिंसा" के लिये अवश्य कुछ न कुछ उल्लेख है सही परन्तु जैनधर्म ने जो अहिंसाधर्म बताया है वैसा दूसरे धर्मों में नहीं है। किन्हीं भारतीय विद्वानों का आक्षेप है कि अहिंसाधर्म ने भारतवर्ष की वीरता का नाश किया है। यह अहिंसा लोगों में शूर वीरता के बदले कायरता, भीरुता ही लाई है इत्यादि। परन्तु मैं तो यह कहता हूं कि यह बात सत्य नहीं है। अहिंसाधर्म का पालन करने वालों ने

युद्ध किये हैं, लड़ाइयाँ लड़ी हैं तथा राज्य चलाए हैं। अहिंसा में जो आत्मशक्ति, जो संयम, जो विश्वप्रेम है वह दूसरी किसी भी वस्तु में नहीं हो सकता। अहिंसा सम्बन्धी उपर्युक्त आक्षेप वही लोग करते हैं कि जो जैनदर्शन में प्रतिपादित साधुधर्म और गृहस्थधर्म को नहीं जान पाये। इन दोनों धर्मों की भिन्नता समझने वाला ऐसा आक्षेप कभी कर ही नहीं सकता।

भारत गौरव लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपने व्याख्यान में एक जगह कहा है कि "**अहिंसा परमो धर्मः इस उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मणधर्म पर चिरस्मरणीय छाप मारी है,** अर्थात् यज्ञयागादि में पशुहिंसा होती थी वह आज कल नहीं होती; **ब्राह्मणधर्म पर जैनधर्म ने ही यह एक भारी छाप मारी है।** घोर हिंसा का कलंक ब्राह्मणधर्म से दूर करने का श्रेय जैनधर्म के हिस्से में ही है।

नोर्वेजीयन विद्वान डा० स्टीनकोनो भी कहता है कि:—

"आज भी अहिंसा की शक्ति पूर्ण रूप से जागृत है। जहाँ कहीं भी भारतीय विचारों या भारतीय सभ्यता ने प्रवेश किया है, वहाँ सदैव भारत का यही सन्देश रहा है। यह तो संसार के प्रति भारत का गगन भेदी सन्देश है। मुझे आशा है तथा मेरा यह विश्वास है कि पितृभूमि भारत के भावी भाग्य में चाहे जो कुछ भी हो, परन्तु भारतवासियों का यह सिद्धान्त सदैव अटल रहेगा।

उपसंहार ।

सज्जनो !

जैनधर्म दया-अहिंसा मार्ग की तरफ़ जगत को आकर्षित करता है जैनों ने ही ब्राह्मणों को अहिंसक बनाया है, यज्ञ यागादि में होती हुई हिंसा का जो नाश हुआ है वह जैनधर्म के प्रताप का ही फल है। गुजरात को अहिंसा का केन्द्र बनाने में भी जैनधर्म मुख्य कारण है।

महान् धर्मों में जैनधर्म की विशिष्टता अहिंसा में है। कई लोग कहा करते हैं कि इस सुख विलास और प्रवृत्ति की दुनिया में जैनसूत्रों के सिद्धान्त अनुसार निवृत्तिमार्ग तथा त्यागमार्ग की तरफ़ आकर्षित होने से कैसे निभाव हो सकता है? परन्तु उन्हें यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि अन्त में इसी मार्ग पर आने के लिये सब को बाध्य होना पड़ेगा।

इस बीसवीं शताब्दी में अनेक साधुओं ने साधुता छोड़ कर इस मायामय संसार में जरूरी अनुकूलताएँ—ऐशो आराम के साधन सेवन करना प्रारम्भ कर दिये है। परन्तु जैन साधुओं का आचार संसार भर में प्रशंसनीय गिना जाता है वे आर्यावर्त के प्राचीन साधु आचार का आज भी पालन कर रहे हैं।

सज्जनो !

इतने समय तक आप सबने मेरा व्याख्यान सुनने में जो धैर्य और शान्ति रखी है, इसके लिये मैं अन्तःकरण से आप को धन्यवाद देता हूं एवँ साथ ही इतना अनुरोध भी करता हूं कि सामान्य धर्मों में कहीं भी भेद नहीं है।

एक विद्वान ने कहा है कि:—

Eternal truth is one but it is refleted in the minds of the singers.

यदि प्रत्येक तत्त्वज्ञान का तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन किया जाय तथा उस पर विचार किया जाय तो बहुत से मत भेद तुरत ही मृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं।

भारत के धार्मिक उत्थान के लिये भारतीय लोगों को धार्मिक क्लेशों को दूर करना चाहिये। ऐसा करने से ही हमारी एकता जगत को अद्भुत चमत्कार बता सकेगी, ऐसा मेरा नम्र तथा दृढ़ विश्वास है। अन्त में जैनधर्म, जो कि यूनिवर्सल—दुनिया का धर्म है इसे जगत अपनावे यही मेरी सदेच्छा है। इतना कह कर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूं। वन्दे जिनवरम्।

आचार्य विजयेन्द्रसूरि.

इंडियन फिलॉसोफिकल कांग्रेस कलकत्ता के अधिवेशन

में

इतिहासतत्त्वमहोदधि

आचार्य

श्री विजयेन्द्र सूरि जी महाराज

का

जैनतत्वज्ञान पर निबन्ध।

उपक्रम—

भारतवर्ष का प्राचीन से प्राचीन इतिहास भी इस बात का प्रतिपादन करता है कि—इस देश में ऐसे उच्च कोटि के तत्त्वज्ञ पुरुष थे जिनकी तुलना शायद ही कोई दूसरा देश कर सके। भारतवर्ष के दर्शनों में इतना गंभीर रहस्य समाया हुआ है कि जिनका तलस्पर्श करने में आज कोई भी विद्वान सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। हतभाग्य भारतवर्ष आज दूसरे देशों के तत्त्वज्ञों का मुंह ताक रहा है तथा हम हर समय, बात बात में इतरदेशों के तत्त्वज्ञों के प्रमाण देने को तैयार रहते हैं। मेरे नम्र मतानुसार हमें अभी भारतवर्ष के दर्शनों पर बहुत कुछ विचार करना बाकी है। मेरी तो यह धारणा है कि जो कोई

भी विद्वान दार्शनिक रहस्यों को जानने के लिये जितना गहरा उतरेगा वह उतना ही उस में से अपूर्व सार खींच सकेगा और इसके द्वारा भारतवर्ष में कुछ नया नया प्रकाश डाल सकेगा।

कलकत्ता की फिलासोफ़िकल सोसायटी ने ऐसी काँग्रेस बुलाने की जो योजना की है इससे भारतवर्ष के विद्वानों को एक दूसरे के दार्शनिकतत्त्व जानने का समय प्राप्त हो सकेगा। इसके लिये इस सोसाइटी को धन्यवाद देकर मैं अपने मूल विषय पर आता हूं।

प्राचीनता—

जैनदर्शन भारतवर्ष के छः आस्तिक दर्शनों में से एक अति-प्राचीन आस्तिक धर्म अथवा दर्शन है। यह बात सत्य है कि जब तक जैनग्रन्थ विद्वानों के हाथों में नहीं आये थे तब तक "जैनधर्म बुद्धधर्म की शाखा है", जैनदर्शन एक नास्तिक दर्शन है", "जैनधर्म अनीश्वर वादी धर्म है", इत्यादि—नाना प्रकार की कल्पनाएं लोगों ने कीं; परन्तु इधर कुछ वर्षों से जैसे जैसे जैनसाहित्य लोगों के हाथों में आता गया, जैनधर्म के गम्भीर तत्त्व लोगों को ज्ञात होने लगे तथा इतिहास की कसौटी में जैनधर्म की प्राचीनता के अनेक प्रमाण मिलने लगे; वैसे वैसे विद्वान लोग अपने मत का परिवर्तन करने लगे। जैनधर्म को अर्वाचीन मानने वालों ने जब यह देखा कि "वेद" जैसे प्राचीन से प्राचीन महामान्य ग्रन्थों में भी जैन तीर्थंकरों

के नाम आते हैं, जब कि भागवत जैसे ऐतिहासिक ग्रंथ में **ऋषभदेव जैसे जैन तीर्थंकर** का—जिनको हुए आज क्रोड़ों वर्ष माने जाते हैं—उल्लेख पाया जाता है तो यह निःसन्देह बात है कि जैनधर्म अति प्राचीन काल से—वेद के समय से भी पहिले का है; इसमें किंचित् भी शंका को स्थान नहीं है।

पाश्चात्य विद्वान अधिकतर जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा मानते थे। परन्तु बौद्धों के पिटक ग्रंथों में—**महावग्ग और महापरिणिव्वाण** आदि में जैनधर्म और श्रीमहावीर के सम्बन्ध में प्राप्त हुए उल्लेखों से तथा अन्य भी कई प्रमाणों से सब विद्वानों को स्पष्ट स्वीकार करना पड़ा है कि "जैनधर्म एक प्राचीन और स्वतंत्र धर्म है"।

जर्मनी का सुप्रसिद्ध डा० हर्मन जेकोबी स्पष्ट कहता है कि:—

I have come to conclusion that Jain Religion is extremely ancient religion independent of other faiths. It is of great importance in studying the ancient philosophy and religious doctrines of India.

अर्थात्—मैं निर्णय पर आ गया हूं कि "जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन और दूसरों से पृथक एक स्वतंत्र धर्म है इसलिये भारतवर्ष का प्राचीन तत्त्वज्ञान और धार्मिकजीवन जानने के लिये यह अत्यन्त उपयोगी है।"

इस समय मुझे जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में इस लिये इतना उल्लेख करना पड़ा है कि भारतवर्ष के प्राचीन दर्शनों में ही एक ऐसा विशेष तत्त्व रहा हुआ है जो आधुनिक विचारकों की विचार सृष्टि में देखने तक को नहीं मिलता। इसीलिये मेरा यह अनुरोध करना अनुचित नहीं होगा कि–मात्र भारत के ही नहीं परन्तु सारी दुनियां के विद्वानों को जैन-दर्शन में बताये हुए तत्त्वज्ञान का भी विशेषतः अभ्यास करना चाहिये।

जैनतत्त्वज्ञान—

सज्जनो! मैं इस प्रसंग पर यह कहना चाहता हूं कि—जैन तत्त्वज्ञान एक ऐसा तत्त्वज्ञान है, जिसमें से खोजने वाले को नई नई वस्तुओं की प्राप्ति होगी। इस तत्त्वज्ञान की उत्कृष्टता के संबन्ध में मात्र मैं इतना ही कहूंगा कि जैनों की ऐसी मान्यता है---और जैनसिद्धान्तों में प्रतिपादित है कि--- जैनधर्म का जो कुछ भी तत्त्वज्ञान है वह इसके तीर्थंकरों ने ही प्रकाशित किया हैं। और ये तीर्थंकर इस तत्त्वज्ञान को तभी प्रकाशित करते हैं कि जब इन्हें कैवल्य–केवलज्ञान प्राप्त होता है, "**केवलज्ञान**" अर्थात् भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों कालीन लोकालोक के समस्त पदार्थों का यथास्थित ज्ञान प्राप्त कराने वाला ज्ञान। ऐसा ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् जो तत्त्व का प्रकाश किया जावे उसमें असत्य की मात्रा का लेश भी नहीं

रहने पाता, यह स्पष्ट बात है और इसी का ही कारण है कि जो जो विद्वान जैनतत्त्वज्ञान का अभ्यास कर रहे हैं वे वे विद्वान जैनतत्त्वज्ञान की मुक्तकंठ से उत्कृष्टता स्वीकार कर रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं परन्तु विज्ञान की दृष्टि से इस तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने वाले तो इस पर विशेषतः मुग्ध हो रहे हैं। इस संबन्ध में इटालियन विद्वान डा० एल० पी० टेसीटोरी ने कहा है :—

"जैनदर्शन बहुत ही ऊँची पंक्ति का है। इसके मुख्य तत्त्व, विज्ञानशास्त्र के आधार पर रचे हुए हैं। मेरा यह अनुमान मात्र ही नहीं हैं परन्तु पूर्ण अनुभव है। जैसे जैसे पदार्थ विज्ञान आगे बढ़ता जाता है वैसे वैसे जैनधर्म के सिद्धान्त सिद्ध होते जाते हैं।"

ऐसे उत्तम जैनतत्त्वज्ञान के विषय में मैं इस छोटे से निबन्ध में क्या लिख सकता हूं? इस बात का विचार आप सब लोग स्वभाविक ही कर सकते हैं। इस लिये मैं जैनधर्म में प्रकाशित किये गये बहुत और अति गम्भीर तत्त्वों का विवेचन न कर मात्र संक्षेप में ही स्थूल स्थूल तत्त्वों के सम्बन्ध में थोड़ा सा यहां उल्लेख करूँगा।

ईश्वर—

इस समय सर्व प्रथम जैनों की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता का उल्लेख करूँगा। ईश्वर का लक्षण कलिकालसर्वज्ञ

हेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र में इस प्रकार बताया है :—

"सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥"

अर्थात्—सर्वज्ञ, रागद्वेषादि दोषों को जीतने वाला, त्रैलोक्य पूजित और यथास्थित—सत्य कहने वाला ही देव, अर्हन् अथवा परमेश्वर है ।

इसी प्रकार हरिभद्रसूरि ने महादेव अष्टक में कहा है कि :—

"यस्यसंक्लेशजननो रागो नास्त्येव सर्वथा ।
न च द्वेषोऽपि सत्त्वेषु शमेन्धनदवानलः ॥
न च मोहोऽपि सज्ज्ञानच्छादनोऽशुद्धवृत्तकृत् ।
त्रिलोकख्यातमहिमा महादेवः स उच्यते ॥
यो वीतरागः सर्वज्ञो यः शाश्वतसुखेश्वरः ।
क्लिष्टकर्मकलातीतः सर्वथा निष्कलस्तथा ॥
यः पूज्यः सर्वदेवानां यो ध्येयः सर्व देहिनाम् ।
यः स्रष्टा सर्वनीतीनां महादेवः स उच्यते ॥"

उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट जान पड़ता है कि जो राग, द्वेष मोह से रहित है, त्रिलोकी में जिसकी महिमा प्रसिद्ध है, जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, शाश्वत सुख का स्वामी है, सब प्रकार के कर्मों से रहित है, सर्वथा कला रहित है, सर्व देवों का पूज्य

है, सर्व शरीरधारियों का ध्येय है तथा जो समस्त नीति का मार्ग बताने वाला है, वह ही **महादेव** ईश्वर है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ईश्वर को "नीति का स्रष्टा" इस अपेक्षा से कहा है कि वह शरीरधारी अवस्था में जगत को कल्याण का मार्ग बताने वाला है। शरीर छूटने के बाद—मुक्ति में गये बाद इनमें से ईश्वर को किसी भी प्रकार का कर्तव्य-करना नहीं रहता इस बात का स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे।

यदि संक्षेप में कहा जावे तो **"परिक्षीणसकलकर्मा ईश्वरः"** अर्थात् जिसके सर्व कर्म क्षय हो गये हैं वह **ईश्वर** है।

जो आत्मा आत्मस्वरूप का विकास करते करते परमात्म-स्थिति को पहुंचते हैं वे सब ईश्वर कहलाते हैं। जैनसिद्धान्त किसी एक ही व्यक्ति को ईश्वर नहीं मानता, कोई भी आत्मा कर्मों का क्षय कर परमात्मा बन सकता है। हां, परमात्म-स्थिति में पहुंचे हुए ये सब सिद्ध परस्पर एकाकार और अत्यन्त संयुक्त होने से, इनको समुच्चय में यदि **"एक ईश्वर"** रूप कथंचित् व्यवहार किया जावे तो इसमें कोई अनुचित नहीं है किन्तु जैनसिद्धान्त ऐसा कदापि प्रतिपादन नहीं करता है कि जगत की कोई भी आत्मा ईश्वर नहीं हो सकती—परमात्म-स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकती।

इस प्रसंग पर 'आत्मा' 'परमात्मा' किस प्रकार हो सकता है? "परमात्मस्थिति" में पहुंचा हुआ आत्मा कहां रहता है? इत्यादि विवेचन करने योग्य है, परन्तु ऐसा करने से निबन्ध का कलेवर बढ़ जाने का भय है इसलिये इस विषय को छोड़ कर ईश्वर सम्बन्धी जैनों की खास खास दो मान्यताओं की तरफ आप सब का ध्यान आकर्षित करूंगा।

प्रथम बात यह है कि **"ईश्वर अवतार धारण नहीं करता।** यह बात स्पष्ट समझी जा सकती है कि जो आत्माएँ सकल कर्मों को क्षय कर सिद्ध होती हैं—संसार से मुक्त होती हैं, उन्हें संसार में पुनः अवतार लेने का कोई कारण नहीं रहता। जन्म-मरण को धारण करना कर्मपरिणाम से होता है परन्तु मुक्तावस्था में तो इस कर्म का नामोनिशान भी नहीं रहता। जब "**कर्म**" रूप कारण का ही अभाव है, तो फिर "जन्म धारण करने" रूप कार्य की उत्पत्ति ही कैसे हो सकती है? क्योंकि :—

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहाति भवांकुरः॥"

जिस प्रकार बीज के सर्वथा जल जाने के बाद उसमें से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के सर्वथा जल जाने पर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

एवँ मुक्तावस्था में नवीन कर्मबन्धन का भी कारण नहीं रहता क्योंकि कर्म-यह एक जड़ पदार्थ है। इसके परमाणु वहीं लगते हैं जहाँ राग-द्वेष की चिकनाहट होती है किन्तु मुक्तावस्था—परमात्मस्थिति में पहुंची हुई आत्माओं को राग-द्वेष की चिकनाहट का स्पर्शमात्र भी नहीं होता। इसलिये मुक्तावस्था में नवीन कर्म बन्धन का भी अभाव है तथा कर्म-बन्धन के अभाव के कारण वे मुक्तात्माएं पुनः संसार में नहीं आतीं।

दूसरी बात—**ईश्वरकर्तृत्व** सम्बन्धी है। जैनदर्शन में ईश्वरकर्तृत्व का अभाव माना गया है अर्थात् "ईश्वर को जगत का कर्त्ता नहीं माना जाता"।

सामान्यदृष्टि से देखा जाय तो जगत के दृश्यमान सर्व पदार्थ किसी न किसी के द्वारा बने हुए अवश्य दिखलाई देते हैं, तो फिर जगत जैसी वस्तु किसी के बनाये विना बनी हो, और वह नियमितरूप से अपना व्यवहार चला रही हो, यह कैसे संभव हो सकता है यह शंका जनता को अवश्य होती है।

किन्तु विचार करने की बात है कि हम ईश्वर का जो स्वरूप मानते हैं—जिन जिन गुणों से युक्त ईश्वर का स्वरूप वर्णन करते हैं इस स्वरूप के साथ ईश्वर का "कर्तृत्व" कहाँ तक उचित प्रतीत होता है? इस बात का विचार करना भी उचित जान पड़ता है।

सब दर्शनकार ईश्वर के जो विशेषण बताते हैं, इसको राग-द्वेष रहित, सच्चिदानन्दमय, अमोही, अच्छेदी, अभेदी, अनाहारी, अकषायी—आदि विशेषणों सहित स्वीकार करते हैं। ऐसे विशेषणों युक्त ईश्वर जगत का कर्त्ता कैसे हो सकता है? प्रथम बात तो यह है कि ईश्वर अशरीरी है। अशरीरी ईश्वर किसी भी वस्तु का कर्त्ता हो ही कैसे सकता है? कदाचित् उत्तर में यह कहा जावे कि "इच्छा से"। तो इच्छा तो रागाधीन है और ईश्वर में तो राग-द्वेष का सर्वथा अभाव माना गया है। यदि ईश्वर में भी राग-द्वेष-इच्छा-रति-अरति आदि दुर्गुण माने जावें तो ईश्वर ही किस बात का?

यदि ईश्वर को जगत का कर्त्ता माना जावे तो जगत की आदि ठहरेगी। यदि जगत की आदि है तो जब जगत नहीं बना था तब क्या था? यदि कहो कि अकेला ईश्वर ही था, तो अकेले "ईश्वर" का व्यवहार ही "वदतो व्याघातः" जैसा है। "ईश्वर" शब्द दूसरे किसी शब्द की अपेक्षा अवश्य रखता है। "ईश्वर"; तो किसका ईश्वर? कहना ही पड़ेगा कि संसार की अपेक्षा "ईश्वर"। "संसार" है तो ईश्वर है तथा "ईश्वर है तो संसार है। दोनों शब्द सापेक्ष हैं इसलिये यह मानना आवश्यक है कि जगत और ईश्वर दोनों अनादि हैं। इनकी कोई आदि नहीं है। अनादि काल से यह व्यवहार चला आता है। इस विषय का जैनदर्शन में सन्मतितर्क, स्याद्वादरत्नाकर, अनेकान्तजयपताका, रत्नाकरावतारिका,

स्याद्वादमंजरी आदि अनेक ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक स्पष्टीकरण किया हुआ है, इन ग्रन्थों को देखने के लिये विद्वानों को मैं सूचना करता हूं।

कर्म—

ऊपर, ईश्वर के विवेचन में कर्म का उल्लेख किया गया है। इस कर्म का सर्वथा क्षय होने से कोई भी आत्मा ईश्वर हो सकती है। • यह "कर्म" क्या वस्तु है, यहाँ पर मैं इसे संक्षेप में बताने का प्रयत्न करूंगा।

"जीव" अथवा "आत्मा" यह ज्ञानमय अरूपी पदार्थ है, इसके साथ लगे हुए सूक्ष्म मलावरण को कर्म कहते हैं। "कर्म" यह जड़पदार्थ है—पौद्गलिक है। कर्म के परमाणुओं को कर्म का "दल" अथवा "दलिया" कहते हैं। आत्मापर रही हुई राग-द्वेष रूपी चिकनाहट के कारण इस कर्म के परमाणु आत्मा के साथ लगते हैं। यह मलावरण-कर्म, जीव को अनादि काल से लगे हुए हैं। इनमें से कोई अलग होते हैं तो कोई नये लग जाते हैं; इस प्रकार क्रिया हुआ करती है। आत्मा के साथ इस प्रकार लगने वाले कर्मों के जैनशास्त्रकारों ने मुख्य दो भेद बताये हैं।

१ घातिकर्म और अघातिकर्म। जो कर्म आत्मा से लगकर इसके मुख्य स्वभाविकगुणों का घात करते है वह घातिकर्म हैं और जो कर्म के परमाणु आत्मा के मुख्य गुणों

को हानि नहीं पहुंचाते उन्हें अघातिकर्म कहते हैं। इस घाति और अघाति दोनों के चार चार भेद हैं। अर्थात् कर्म के मुख्य आठ भेद बताये गये हैं।

१ **ज्ञानावरणीयकर्म**—इसको बाँधी हुई पट्टी की उपमा दी गई है अर्थात् जैसे आँख पर बांधी हुई पट्टीवाला मनुष्य किसी भी पदार्थ को नहीं देख सकता वैसे ही "ज्ञानावरणीय कर्म" से यह आत्मा जब तक आच्छादित रहता है तब तक इसका ज्ञान गुण ढका रहता है।

२ **दर्शनावरणीयकर्म**—इसको दरबान की उपमा दी गई है। जैसे राजा की मुलाकात करने में दरबान विघ्न कर्ता होता है, वैसे यह कर्म वस्तुतत्त्व को देखने में बाधक होता है।

३ **मोहनीयकर्म**—यह कर्म मदिरा समान है। जैसे मदिरा से मुग्ध-भान भूला मनुष्य यद्वा तद्वा बकता है, वैसे ही मोह से मस्त बना हुआ जीव कर्तव्याकर्तव्य को समझ नहीं सकता।

४ **अंतरायकर्म**—यह कर्म राजा के भंडारी समान है। जैसे राजा की इच्छा दान देने की होते हुए भी भंडारी कुछ न कुछ बहाना निकाल कर दान नहीं देने देता, वैसे ही यह कर्म शुभ कार्यों में विघ्नरूप होता है।

५ **वेदनीयकर्म**—मनुष्य सुख-दुःख का जो अनुभव करता है वह इस कर्म के परिणाम स्वरूप करता है। सुख-सातावेदनीय

कर्म का परिणाम है और दुःख असातावेदनीय कर्म का परिणाम है।

६ **आयुष्यकर्म**—जीवन को टिका रखने वाला कर्म-आयुःकर्म है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी का आयुष्य प्राप्त होना इस कर्म के ही फल स्वरूप है।

७ **नामकर्म**—अच्छी गति, सुन्दर शरीर, पूर्ण इन्द्रियादि ये शुभ **नामकर्म** के कारण प्राप्त होते हैं। तथा नीचगति, कुरूपशरीर, इन्द्रियों की हीनता वगैरह अशुभ **नामकर्म** के कारण प्राप्त होते हैं।

८ **गोत्रकर्म**—इस कर्म के कारण से उच्चगोत्र और नीचगोत्र की प्राप्ति होती है। शुभकर्म से उच्चगोत्र और अशुभकर्म से नीचगोत्र प्राप्त होता है।

उपर्युक्त आठ कर्मों के अनेकानेक भेद प्रभेद हैं। इनका वर्णन "कर्मग्रंथ", "कम्मपयड़ी", आदि ग्रंथों में बहुत ही विस्तार पूर्वक किया गया है।

ऊपर बताये गये कर्मों को सूक्ष्मता पूर्वक अवलोकन करने वाले महानुभाव सरलता पूर्वक समझ सकेंगे कि—जगत में जो नाना प्रकार की विचित्रता दिखलाई देती है, वह सब कर्मों के ही कारण से है। एक सुखी-एक दुःखी, एक राजा-एक रंक, एक काना-एक अपंग, एक मोटर में बैठता है-और एक पीछे दौड़ता है, एक महल में रहता है-एक को रहने के लिये झोंपड़ी

भी नहीं है, एक ज्ञानी-एक महामूर्ख, यह सब जगत का वैचित्र्य होने का कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। तथा वह कारण दूसरा कोई नहीं है किन्तु सब किसी का अपने अपने किये हुए कर्मों का फल ही है। जीव जिस जिस प्रकार के कम करके जन्म लेता है उस उस प्रकार के फलों की प्राप्ति उसे होती है।

इसी लिये कहा गया है कि यद्यपि "कर्म" यह जड़ पदार्थ-पौद्गलिक पदार्थ है तथापि इसकी शक्ति कुछ कम नहीं है। कर्म जड़ होते हुए भी वे चैतन्य को—आत्मा को अपनी तरफ़ खींचते हैं तथा जिस प्रकार का वह कर्म होता है वैसी ही गति अथवा सुख दुःख की तरफ़ इसको ले जाता है।

आत्मा पुरुषार्थ करते करते—अपनी अनन्त शक्तियों को विकसित करते करते जिस समय इन कर्मों का सर्वथा नाश करेगा उस समय यह अपने असली-वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करेगा—ईश्वरत्व प्राप्त करेगा।

यहाँ इस शंका को अवकाश है कि अनादि काल से जीव और कर्मों का एक साथ सम्बन्ध है—एक साथ रहे हुए हैं तो फिर वे कर्म सर्वथा अलग कैसे हो सकते हैं? इन कर्मों का सर्वथा अभाव कैसे हो सकता है?

इस शंका का समाधान अवश्य विचारनीय है। यह बात सत्य है कि आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि कहा गया है, परन्तु इसका अर्थ यह है कि अनादि काल से आत्मा

को नये नये कर्म लगते रहते हैं और पुराने कम छूटते जाते हैं। अर्थात् कोई भी कर्म आत्मा के साथ अनादि संयुक्त नहीं है किन्तु जुदा जुदा समय जुदा जुदा कर्मों का प्रवाह अनादि काल से चला आता है। एवँ जब यह बात निश्चित है कि पुराने कर्म छूटते रहते हैं और नये कर्म लगते रहते हैं तब यह समझना कुछ भी कठिन नहीं है कि कोई समय ऐसा भी आता है जब कि आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त भी हो जाती है। हम अनेक कार्यों में अनुभव कर सकते हैं कि एक वस्तु एक स्थान में अधिक होती है तो दूसरे स्थान में कम होती है। इस पर से यह बात निश्चित है कि किसी स्थान में इस वस्तु का सर्वथा अभाव भी होगा। जैसे जैसे सामग्री की प्रबलता अधिक प्राप्त होती जाय वैसे वैसे उस कार्य में अधिक सफलता मिलती रहती है। कर्मक्षय के प्रबल कारण प्राप्त होने पर सर्वथा कर्मक्षय भी हो सकता है।

जैसे सोने और मिट्टी का संबन्ध अनादि काल का होता है, परन्तु वही मिट्टी प्रयत्न करने से सोने से सर्वथा दूर की जा सकती है और स्वच्छ सोना अलग हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म का संबन्ध अनादि काल से होने पर भी प्रयत्न करने से वह सर्वथा छूट सकता है। और जब कर्म सर्वथा छूट जाता है तब इसके बाद जीव पर नये कर्म नहीं आते; क्योंकि 'कर्म' ही कर्म को लाता है अथवा दूसरे शब्दों

में कहें तो राग-द्वेष की चिकनाहट कर्म को खींचती है; किन्तु कर्म के अभाव में यह चिकनाहट रहती ही नहीं है।

पांच कारण—

उपर्युक्त कर्म विवेचन से आप भलीभांति समझ गये होंगे कि जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध होते हुए भी पुरुषार्थ द्वारा इन कर्मों का क्षय हो सकता है, सर्वथा क्षय किया जा सकता है। कई महानुभाव समझने में भूल् करते हैं कि 'जैनधर्म में मात्र कर्म की ही प्रधानता हैं, जैनलोग कर्म के ऊपर ही विश्वास रख कर बैठे रहते हैं।' परन्तु, महानुभावो! यह बात नहीं है। जैनसिद्धान्त में जैसे कर्म का प्रतिपादन किया गया है, वैसे ही पुरुषार्थ का भी प्रतिपादन किया गया है। कर्मों को हटाने के—दूर करने के अनेक उपाय ज्ञान, ध्यान, तप, जप, संयमादि बतलाये गये हैं। यदि मात्र कर्म पर ही भरोसा रख कर बैठे रहने का आदेश होता, तो आज जैनों में जो उग्र तपस्या, अद्वितीय त्याग-वैराग्य, महाकष्टसाध्य संयम आदि दिखलाई देते हैं वे कदापि न होते। इसलिये स्मरण में रखना चाहिये कि जैनधर्म में केवल कर्म का ही प्राधान्य नहीं है, परन्तु कर्म के साथ पुरुषार्थ को भी उतने ही दर्जे तक माना है। हां, "प्राणी जैसे जैसे कर्म करता है वैसे वैसे फलों की प्राप्ति करता है।" इस बात की उद्घोषणा जरूर की जाती है; तथा मेरी धारणानुसार इस बात में कोई भी दर्शनकार असहमत नहीं हो सकता।

यह बात ठीक है कि जैनदर्शन में कर्म और पुरुषार्थ का प्रतिपादन किया गया है परन्तु यदि इससे भी आगे बढ़ कर कहें तो जैनदर्शन में किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिये कर्म और पुरुषार्थ ये दो ही नहीं किन्तु **पांच कारण** माने गये हैं। वे पांच कारण इस प्रकार हैं—

१ काल २ स्वभाव ३ नियति ४ पुरुषाकार और ५ **कर्म** ।

ये पांचों कारण एक दूसरे के साथ ऐसे ओतप्रोत—संयुक्त हो गये हैं कि इनमें से एक भी कारण के अभाव में कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

हम इस बात का एक उदाहरण द्वारा अवलोकन करें—

जैसे कि स्त्री बालक को जन्म देती है, इसमें सर्व प्रथम **काल** की अपेक्षा है, क्योंकि बिना काल के स्त्री गर्भ धारण नहीं कर सकती। दूसरा कारण **स्वभाव** है। यदि उसमें बालक को जन्म देने का स्वभाव होगा तो ही बालक उत्पन्न होगा नहीं तो नहीं होगा। तीसरा कारण है **नियति** (अवश्यं-भाव) अर्थात् यदि पुत्र उत्पन्न होने को होगा तभी होगा, नहीं तो कुछ कारण उपस्थित होकर गर्भ नष्ट हो जायगा। चौथा कारण है **पुरुषाकार** (पुरुषार्थ) पुत्र उत्पन्न होने में पुरुषार्थ की भी आवश्यकता पड़ती है। कुमारी कन्या को कभी भी पुत्र उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार चारों कारण होते हुए भी यदि **कर्म** (भाग्य) में होगा, तो ही होगा।

अर्थात् पुत्र उत्पन्न होने रूप कार्य में जब उपर्युक्त पांचों कारण मिलते हैं तभी कार्य सिद्ध होता है, केवल भाग्य पर आधार रख कर बैठे रहने से किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तिलों में तैल होता है, परन्तु वह उद्यम बिना नहीं निकलता। मात्र उद्यम को ही फल दाता माना जाय तो चूहा उद्यम करते हुए भी सांप के मुख में जा पड़ता है। बहुत मनुष्य द्रव्य प्राप्ति के लिये उद्यम करते हैं, किन्तु फल की प्राप्ति नहीं होती। केवल भाग्य (कर्म) और उद्यम दोनों को ही माना जाय तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि खेती करने वाला उचित समय के सिवाय उत्पन्न होने की शक्ति वाले बीज को उद्यम पूर्वक बोये तो भी वह फलीभूत नहीं होता क्योंकि काल नहीं है। यदि इन तीनों को ही कारण माना जाय तो भी ठीक नहीं है क्योंकि उगने की शक्तिहीन छर् मूंग को बोने में—काल, भाग्य, पुरुषार्थ होते हुए भी स्वभाव का अभाव होने से उत्पन्न नहीं होगी। अब यदि ये चारों—काल, कर्म, पुरुषार्थ, स्वभाव कारण हों किन्तु भवितव्यता न हो तो भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। बीज अच्छा हो और अंकुर उत्पन्न भी हुआ हो किन्तु यदि होनहार (भवितव्यता) ठीक न हो तो कोई न कोई उपद्रव होकर वह नष्ट हो ही जावेगा।

इस लिये किसी भी कार्य की निष्पत्ति में जैनशास्त्रकारों ने ये पांच कारण माने हैं और ये पांचों ही कारण एक दूसरे की अपेक्षा से प्राधान्यता को लिये हुए हैं।

कहने का मतलब यह है कि जैनशासन की यह खास विशेषता है कि किसी भी वस्तु में **एकान्तता** का अभाव है है। एकान्तरीत्या अमुक ही कारण से यह हुआ, ऐसा मानना मना है। और इसीलिये जैनदर्शन में **स्याद्वाद** का सिद्धान्त प्रतिपादन किया गया है। इस अवसर पर मैं इस **स्याद्वाद** के सिद्धांत को थोड़ा स्पष्ट करने की चेष्टा करूँगा।

स्याद्वाद—

स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद का प्राधान्य जैनदर्शन में बहुत अधिक माना गया है--इसीलिये 'जैनदर्शन' का दूसरा नाम भी 'अनेकान्तदर्शन' रखा गया है। इस स्याद्वाद का यथास्थित स्वरूप न समझने के कारण ही कई लोगों ने इसको "**संशयवाद**" वर्णन किया है, परन्तु वस्तुतः '**स्याद्वाद**' '**संशय वाद**' नहीं है संशय तो इसे कहते हैं कि 'एक वस्तु कोई निश्चय रूप से न समझी जाय।' अंधकार में किसी लम्बी वस्तु को देख कर विचार उत्पन्न हो कि 'यह रस्सी है या साँप ?' अथवा दूर से लकड़ी के ठूंठ समान कुछ देख कर विचार हो कि, 'यह मनुष्य है या लकड़ी ?' इसका नाम संशय है। इसमें साँप या रस्सी, किंवा मनुष्य या लकड़ी कुछ भी निणय नहीं किया गया। यह एक संशय है। परन्तु स्याद्वाद में ऐसा नहीं है। तब 'स्याद्वाद' क्या वस्तु है,

अब इस बात का विचार करें। स्याद्वाद की संक्षेप में व्याख्या इस प्रकार हो सकती है—

"एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्धनानाधर्म-स्वीकारो हि स्याद्वादः।"

एक पदार्थ में अपेक्षा पूर्वक विरुद्ध नाना प्रकार के धर्मों को स्वीकार करना इसका नाम स्याद्वाद है।

संसार के सब पदार्थों में अनेक धर्म रहे हुए हैं यदि सापेक्ष-रीत्या इन धर्मों का अवलोकन किया जावे तो उसमें उन धर्मों की सत्यता अवश्य ज्ञात होगी। एक व्यवहारिक दृष्टान्त को ही लो—

एक मनुष्य है; उसमें अनेक धर्म रहे हुए हैं। वह पिता है, वह पुत्र है, वह चाचा है, वह भतीजा है, वह मामा है, और वह भानजा भी है। यद्यपि ये सभी धर्म परस्पर में विरुद्ध हैं तथापि ये एक ही व्यक्ति में विद्यमान हैं; और इन विरुद्ध धर्मों को यदि हम अपेक्षापूर्वक देखें तो तब ही यह सिद्ध होंगे। मतलब यह है कि—वह पिता है अपने पुत्र की अपेक्षा; वह पुत्र है अपने पिता की अपेक्षा; वह भतीजा है अपने चाचा की अपेक्षा; वह मामा है अपने भानजे की अपेक्षा; तथा वह भानेज है अपने मामा की अपेक्षा। इस प्रकार अपेक्षापूर्वक न देखा जावे तो ऐसे विरुद्धधर्म एक व्यक्ति में कदापि संभव नहीं हो सकते।

इसी प्रकार दुनिया के तमाम पदार्थों में—आकाश से लेकर दीपक पर्यन्त एक ही पदार्थ में हम सापेक्षरीत्या नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्वादि धर्मों का अवलोकन कर सकते हैं। यहाँ तक कि 'आत्मा' जैसी नित्य मानी जाने वाली वस्तु को भी यदि हम स्वाद्वाद दृष्टि से देखेंगे तो इसमें नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म मालूम होंगे।

इस तरह तमाम वस्तुओं में सापेक्षरीत्या अनेक धर्म होने के कारण ही श्रीमान् उमास्वाति वाचक ने द्रव्य का लक्षण 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' बताया है। किसी भी द्रव्य के लिये यह लक्ष्ण निर्दोष प्रतीत होता है।

हम 'स्याद्वाद' शैली से 'जीव' पर इस लक्षण को घटावें—

'आत्मा' यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य है, तथापि इसे पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से 'अनित्य' भी मानना पड़ेगा। जैसे कि—एक संसारस्थ जीव, पुण्य की अधिकता के समय जब मनुष्ययोनि को छोड़कर देवयोनि में जाता है; उस समय देवगति में उत्पाद (उत्पत्ति) और मनुष्यपयार्य का व्यय (नाश) होता है; परन्तु दोनों गतियों में चैतन्यधर्म तो स्थायी ही रहता है अर्थात् यदि आत्मा को एकान्त नित्य ही माना जावे तो उत्पन्न किया हुआ पुण्य-पाप पुंज, पुनः जन्म मरणाभाव से निष्फल जायगा और यदि एकान्त अनित्य ही माना जावे तो पुण्य-पाप करने वाला दूसरा और उसे भोगने वाला

दूसरा हो जावेगा। इस लिये आत्मा में कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा।

यह तो चैतन्य का दृष्टान्त हुआ, परन्तु जड़पदार्थ में भी 'उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' द्रव्य का यह लक्षण 'स्याद्वाद' की शैली से जरूर घटित होता है। जैसे सोने की एक कंठी लो।

कंठी को गलाकर कंदोरा बनाया। जिस समय कंठी को गलाकर कंदोरा बनाया उस समय कंदोरे का उत्पाद (उत्पत्ति) तथा कंठी का व्यय (नाश) हुआ; परन्तु स्वर्णत्व ध्रुव है— विद्यमान है। इस प्रकार जगत के सब पदार्थों में 'उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' यह लक्षण घटित होता है और यही स्याद्वादशैली है। एकान्त नित्य, अथवा एकान्त अनित्य कोई भी पदार्थ नहीं माना जा सकता। कंठी को गलाकर कन्दोरा बनाने में कंठी का मात्र आकार बदला है किन्तु कंठी की तमाम वस्तुओं का नाश नहीं हुआ और कंदोरा उत्पन्न हो गया। एकान्त नित्य तो तभी माना जाय कि यदि कंठी का आकार गलाने या तोड़ने पर भी चाहे किसी भी समय जैसे का वैसा ही कायम रहता हो। और एकान्त अनित्य तभी मानाँ जायगा जब कि कंठी को तोड़ने—गलाने से सर्वथा उसका नाश होता हो एवं उसमें से एक भी अंश दूसरी वस्तु में न आता हो।

इसी प्रकार सर्व पदार्थों में नित्यत्व, अनित्यत्व, प्रमेयत्व, वाच्यत्वादि धर्म रहे हुए हैं। इन धर्मों को सापेक्षरीति से स्वीकार करना–इन धर्मों को सापेक्षरीति से देखना, इसका नाम ही स्याद्वाद है।

सीधी तरह से नहीं तो किसी न किसी रूप में भी इस **स्याद्वाद्** का स्वीकार प्रायः सभी आस्तिक दर्शनकारों ने किया है, इस प्रकार मैं अपने दार्शनिक अभ्यास पर से जान सका हूं। सब दर्शनकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार से **स्याद्वाद्** को कैसे स्वीकार किया है? इसे बताने के लिये जितना समय चाहिये उतना समय यहाँ नहीं है। इस लिये यहाँ पर मैं **काशी** के सुप्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय **महामहोपाध्याय पंडित राममिश्र जी शास्त्री** के **सुजनसम्मेलन** नामक व्याख्यान में से स्याद्वाद सम्बन्धी लिखे हुए शब्दों को ही कहूंगा :–

"अनेकान्तवाद तो एक ऐसी वस्तु है कि इसे प्रत्येक को स्वीकार करना ही पड़ेगा। तथा लोगों ने इसे स्वीकार किया भी है। देखो विष्णुपुराण में लिखा है :—

नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम ! ।
वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यार्जवाय च ।
कोपाय च यतस्तस्मात् वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ? ॥

यहां पराशर महर्षि कहता है :—**'वस्तु वस्त्वात्मक नहीं है'** इसका अर्थ ही यह है कि कोई वस्तु एकान्त से एक रूप नहीं है। जो वस्तु एक समय सुख का हेतु है, वही दूसरे क्षण में दुःख का कारण बनती है, तथा जो वस्तु कोई समय दुःख का कारण है वही वस्तु क्षण भर में सुख का कारण भी होती है।

सज्जनो! आप समझ गये होंगे कि यहां स्पष्ट रूप से अनेकान्तवाद को स्वीकार किया गया है। एक दूसरी बात पर भी ध्यान दें, कि जो **'सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं जगत्'** कहते हैं, इसको भी यदि विचारदृष्टि से देखा जाय तो **अनेकान्तवाद** मानने में बाधा नहीं आती क्योंकि–वस्तु को सत् भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं कह सकते तो कहना पड़ेगा कि किसी प्रकार से 'सत्' होकर भी किसी प्रकार से 'असत्' है इसलिये न तो 'सत्' कह सकते हैं और न 'असत्'। अब तो **अनेकान्तता** मानना सिद्ध हुआ?

सज्जनो! **नैयायिक** 'तम' को **तेजोऽभावस्वरूप** कहते हैं तथा मीमांसिक और वैदान्तिक इसका खंडन कर इसको **'भावस्वरूप'** कहते हैं। तो अब विचार करने का स्थान है कि आज तक इसका कुछ भी निर्णय नहीं हो सका कि कौन ठीक कहता है? तब तो दो की लड़ाई में तीसरे का पौ बारह है अर्थात् जैनसिद्धान्त सिद्ध हुआ क्योंकि वह कहता है कि—'वस्तु अनेकान्त है। यह इसको किसी प्रकार से **भावरूप**

कहता है और किसी प्रकार से अभावरूप भी कहता है इसी प्रकार कोई दर्शन आत्मा को '*ज्ञानस्वरूप*' कहता है और कोई '*ज्ञानाधारस्वरूप*' कहता है इस अवस्था में क्या कहना चाहिये ? अनेकान्तवाद ने स्थान प्राप्त किया इस प्रकार कोई ज्ञान को 'द्रव्यस्वरूप' मानता है तो कोई 'गुणस्वरूप' मानता है; कोई जगत को 'भावस्वरूप' कहता है कोई 'शुन्यस्वरूप' तब तो 'अनेकान्तवाद' अनायास सिद्ध हुआ।"

इसी प्रकार काशी विश्वविद्यालय के प्रिंसीपल प्रो० आनन्दशंकर बापुभाई ध्रुव ने अपने एक बार के व्याख्यान में 'स्याद्वाद' सम्बन्धी कहा था कि :—

"स्याद्वाद, हमारे सामने एकीकरण का दृष्टिबिन्दु उपस्थित करता है। शंकराचार्य ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किया है वह मूल रहस्य के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। यह निश्चय है कि—विविध दृष्टि बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु संपूर्ण स्वरूप से समझी नहीं जा सकती। इसलिये 'स्याद्वाद' उपयोगी तथा सार्थक है। महावीर के सिद्धान्त में बताये हुए स्याद्वाद को कई लोग संशयवाद कहते हैं इस बात को मैं स्वीकार नहीं करता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है किन्तु यह हमें एक प्रकार की दृष्टिबिन्दु प्राप्त कराता है कि विश्व को किस प्रकार अवलोकन करना चाहिये।"

इस प्रकार स्याद्वाद सम्बन्धी संक्षेप में विवेचन करने के बाद अब मैं जैनदर्शन में माने हुए छः द्रव्यों सम्बन्धी संक्षेप में विवेचन करूँगा।

छः द्रव्य—

जैनदर्शन में छः द्रव्य माने गये हैं, जिनके नाम ये हैं :— **१ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ पुद्गलास्तिकाय, ५ जीवास्तिकाय,** और ६ **काल**। इन छः द्रव्यों की संक्षिप्त व्याख्या को देखें :—

१ धर्मास्तिकाय—संसार में इस नाम का एक अरूपी पदार्थ है जीव और पुद्गल (जड़) की गति में सहायक होना—इस पदार्थ का कार्य है। यद्यपि जीव और पुद्गल में चलने का सामर्थ्य है, परन्तु धर्मास्तिकाय की सहायता विना वह फलीभूत नहीं होता। जिस प्रकार मछली में चलने का सामर्थ्य है, परन्तु पानी विना वह नहीं चल सकती, उसी प्रकार यह पदार्थ जीव और पुद्गल की चलनक्रिया में सहायक होता है। इस धर्मास्तिकाय के तीन भेद है। १ स्कंध, २ देश, और ३ प्रदेश।

एक समूहात्मक पदार्थ को स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध के जुदा जुदा भागों को देश कहते हैं और प्रदेश उसे कहते हैं कि जिस का फिर विभाग न हो सके।

२ **अधर्मास्तिकाय**--यह भी एक अरूपी पदार्थ है। जिस प्रकार पथिक को स्थिति करने में—स्थिर होने में वृक्ष की छाया सहायभूत है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल को स्थिर होने में यह पदार्थ सहायक होता है।

इन दोनों पदार्थों के कारण ही जैनशास्त्रों में **लोक** और **अलोक** की व्यवस्था बताई है अर्थात् जहां तक ये दोनों पदार्थ विद्यमान हैं वहां तक ही **लोक** और इससे पर **अलोक** है। अलोक में एक मात्र **आकाश** ही है अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है और इसीलिये ही मोक्ष में जाने वाले जीवों की गति लोक के अन्त तक बतलाई है। इस से आगे इन दो शक्तियों का धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव वहां गति नहीं कर सकता। यदि ये दो पदार्थ न माने जायँ तो जीव की उर्ध्वगति बराबर होती ही रहेगी, तथा ऐसा मानने से **मोक्षस्थान** की व्यवस्था ठीक निर्णीत नहीं हो सकेगी इस से अनवस्थादोष प्राप्त होगा; परन्तु ऊपर दो पदार्थों—दो शक्तियों की विद्यमानता मानने से ये सब अड़चनें दूर हो जाती हैं। इस अधर्मास्तिकाय के भी स्कन्ध, देश और प्रदेश ये तीन भेद माने गये हैं।

३ **आकाशास्तिकाय**--यह भी एक अरूपी पदार्थ है। जीव और पुद्गल को अवकाश देना इसका कार्य है। यह आकाशपदार्थ लोक और अलोक दोनों में है। इसके भी स्कन्धादि पूर्वोक्त तीनों भेद हैं।

४ **पुद्गलास्तिकाय**--परमाणु से लेकर यावत् स्थूल या अतिस्थूल-तमाम रूपी पदार्थ **पुद्गल** है इसके १ स्कन्ध, २ देश, ३ प्रदेश, और ४ परमाणु—ये चार भेद हैं। प्रदेश और परमाणु में विशेष अन्तर नहीं है। जो अविभाज्य (जिसका दूसरा भाग न हो सके) भाग दूसरे भागों के साथ मिला रहे उसे प्रदेश कहते हैं, और वही अविभाज्यभाग जुदा हो तो उसे परमाणु कहते हैं।

५ **जीवास्तिकाय**--जीवास्तिकाय का लक्षण इस प्रकार है :—

यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्त्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥

कर्मों को करनेवाला, कर्म के फलों को भोगनेवाला, कर्मानुसार शुभाशुभ गति में जानेवाला तथा सम्यग्ज्ञानादि के कारण कर्मों के समूह को नाश करनेवाला आत्मा-जीव है। इसके सिवाय जीव का दूसरा कोई स्वरूप नहीं है।

उपर्युक्त पाँचों द्रव्यों में **'अस्तिकाय'** शब्द जोड़ा गया है। इसका अर्थ यह है कि:—*अस्ति—प्रदेश* और *काय-समूह*। जिसमें प्रदेशों का समूह हो उसे **अस्तिकाय** कहते हैं। धर्म, अधर्म और जीव, इनके असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश के दो भेद-लोकाकाश और अलोकाकाश हैं। इन में से लोकाकाश असंख्यात प्रदेश वाला और अलोकाकाश अनन्त प्रदेश वाला

है। पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं; इस लिये ऊपर के पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं।

६ **काल**—छठा द्रव्य 'काल' है। यह काल पदार्थ कल्पित है-औपचारिक द्रव्य है। अतद्भाव में तद्भाव का ज्ञान यह उपचार कहलाता है। मुहूर्त, दिन, रात, महीना, वर्ष ये सब काल के विभाग किये गये हैं। असद्भूत क्षणों को बुद्धि में उपस्थित करके ये विभाग किये हुए हैं। बीता समय नष्ट हुआ और भविष्य का समय अभी असत् है, तब चालू समय अर्थात् वर्त्तमानक्षण यही सद्भूत काल है। इस पर से इस बात का आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि एक क्षणमात्र काल में प्रदेश की कल्पना हो नहीं सकती और इस लिये '**काल**, के साथ '**अस्तिकाय**' का प्रयोग नहीं किया जाता।

जैनशास्त्रों में काल के मुख्य दो विभाग किये गये हैं। १ **उत्सर्पिणी** और २ **अवसर्पिणी**। जिस समय में रूप-रस-गंध-स्पर्श इन चारों की क्रमशः वृद्धि होती है, वह उत्स-**र्पिणी** काल है, और जब इन चारों पदार्थों का क्रमशः ह्रास होता है वह **अवसर्पिणी** काल है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में भी छः—छः विभाग हैं। जिनको **आरा** कहते हैं। अर्थात् एक कालचक्र में उत्सर्पिणी के १-२-३-४-५-६ इस क्रम से आरे आते हैं, और अवसर्पिणी में इससे उलटे अर्थात् ६-५-४-

३-२-१ इस क्रम से आते हैं। इन दोनों कालों में चौवीस चौवीस तीर्थंकर होते हैं।

उपर्युक्त छः प्रकार के द्रव्यों की व्याख्या को द्रव्यानुयोग कहते हैं। जैनशास्त्रों में चार अनुयोग बताये गये हैं। **१ द्रव्यानुयोग, २ गणितानुयोग, ३ चरणकरणानुयोग, ४ कथानुयोग।**

द्रव्यानुयोग में ऊपर कहे अनुसार द्रव्यों की व्याख्या—पदार्थों की सिद्धि वतलाई गई है, गणितानुयोग में ग्रह, नक्षत्र, तारे पृथ्वी के क्षेत्रों वगैरह का वर्णन है, चरणकरणानुयोग में चारित्र-आचार-विचार आदि का वर्णन है, तथा कथानुयोग में महापुरुषों के चारित्र वगैरह हैं। समग्र जैनसाहित्य-जैन आगम-इन चार विभागों में विभक्त हैं। इनकी व्याख्या-विवेचन भी आवश्यकीय है; परन्तु निबंध संक्षेप में ही समाप्त करने के कारण इस विवेचन को छोड़ दिया जाता है और अनुरोध किया जाता है कि उपर्युक्त छः द्रव्यों वगैरह का विस्तार पूर्वक विवेचन देखने के अभिलाषी, **सन्मतितर्क, रत्नाकरावतारिका** एवं **भगवती** आदि ग्रंथों को देखें।

नवतत्त्व—

जैनशास्त्रों में नवतत्त्व माने गये हैं। इनके नाम ये हैं:—
१ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आश्रव, ६ संवर, ७ बन्ध, ८ निर्जरा, और ९ मोक्ष।

१ जीव---जीव का लक्षण-*चेतनालक्षणो जीवः* ऐसा कह सकते है। जिसमें चैतन्य है वह जीव है। इस जीव के मुख्य दो भेद हैं। १ संसारी और २ मुक्त। मुक्त वे हैं कि जिन्होंने समस्त कर्मों को क्षय कर सिद्ध-निरंजन-परब्रह्मस्वरूप को प्राप्त किया है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो मोक्ष में गये हुए अथवा आत्मस्वरूप को प्राप्त किये हुए हैं वे मुक्तजीव हैं। इनका वर्णन प्रारंभ में ईश्वर के प्रकरण में किया गया है।

अब रहे संसारी। कर्म से बद्ध-कर्मयुक्त दशा को भोगने वाले संसारी जीव हैं। संसार यह चार गतियों का नाम है। देव-मनुष्य-तिर्यंच और नारक; इन चार गतियों का नाम संसार है। कर्मबद्धावस्था के कारण जीव इन चार गतियों में परिभ्रमण करता है। संसारीजीव के दो भेद हैं:—१ त्रस ओर २ स्थावर। स्थावर के पांच भेद हैं:—१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेजस्काय, ४ वायुकाय, और ५ वनस्पतिकाय। ये पांचों प्रकार के जीव ऐकेन्द्रिय वाले-त्वगिन्द्रिय वाले होते हैं। इसके भी दो भेद हैं। सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं। समस्त लोकाकाश ऐसे जीवों से परिपूर्ण है।

त्रस जीवों में दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों का समावेश होता है। ये जीव हलन-चलन की क्रिया करते हैं इस लिये 'त्रस' कहलाते हैं। पंचेन्द्रियजीवों के चार भेद हैं—नारक, नियंच, मनुष्य और देवता। नारक

सात हैं, इसलिये नारकी के जीवों के भेद भी सात हैं। तिर्यंच के पाँच भेद हैं—जलचर, खेचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प और चतुष्पद। मनुष्य के तीन भेद हैं—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, और अंतर्द्वीपज। देवता के चार भेद हैं—भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

इस प्रकार संसारी जीवों के अनेक भेद प्रभेद बताये हैं। जैसे जैसे विज्ञान का विकास होता जाता है वैसे वैसे जीवों की सूक्ष्मता-जीवों की शक्तियाँ और जीवों की क्रियाएं लोगों के जानने में अधिक आती जाती हैं। जैनशास्त्रों में जीवों के सम्बन्ध में बहुत सूक्ष्मता पूर्वक वर्णन किया गया है और वह विज्ञान के साथ मिलान खाता है। जैनशास्त्रों में जीवों की सूक्ष्मता के लिये जो वर्णन है उसे पढ़कर आज तक लोग अश्रद्धा करते थे, किन्तु जब विज्ञान वेत्ताओं ने थेकसस नामक एक प्रकार के सूक्ष्म जन्तुओं की खोज करके जनता के सामने प्रकट किया जो कि सूई के अग्रभाग पर एक लाख से भी अधिक संख्यामें सरलता पूर्वक बैठ सकते हैं तब लोगों को जैनशास्त्रों में वर्णित जीवों की सूक्ष्मता पर श्रद्धा होने लगी। इसी प्रकार जब सुप्रसिद्ध विज्ञान वेत्ता बोस (सर जगदीशचन्द्र वसु) महाशय ने वनस्पति के जीवों में रही हुई शक्तियों को सिद्ध कर बताया, तब लोगों की आँखें खुलीं। यह बात अवश्य लक्ष्य में लाने योग्य है कि आज जो बातें विज्ञानवेत्ता प्रयोगों द्वारा—यंत्रों द्वारा—प्रत्यक्ष करके बता रहे हैं वे बातें आज से ढाई हज़ार

वर्ष पहले जैन तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपने ज्ञान द्वारा जनता को समझायी थीं। जैनशास्त्रों में ऐसी कितनी ही बातें हैं जो कि विज्ञान की कसौटी से सिद्ध हो सकती हैं। हाँ, इन विषयों को विज्ञान द्वारा देखना चाहिये। जैनशास्त्रों में 'शब्द' को पौद्गलिक बतलाया है, यही बात आज-तार, टेलीफोन, और फ़ोनोग्राफ़ के रेकार्डों में उतारे हुए शब्दों से सिद्ध होती है। बात मात्र इतनी ही है कि प्रयत्न करने की आवश्यक्ता है।

२ अजीव—दूसरा तत्त्व अजीव है। चेतना का अत्यन्ताभाव यह अजीव का लक्ष्ण है। जड़ कहो, अचेतन कहो, ये एकार्थवाची शब्द हैं। यह अचेतन-जड़ तत्त्व पाँच विभागों में विभक्त है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलस्तिकाय, और काल-इनकी व्याख्या पहले की गई है।

३-४ पुण्य--पाप—शुभकर्म को पुण्य कहते हैं और अशुभकर्म को पाप कहते हैं। सम्पत्ति-आरोग्य-रूप-कीर्ति-पुत्र-स्त्री-दीर्घआयुष्य इत्यादि इहलौकिक सुख के साधन तथा स्वर्गादि सुख जिनसे प्राप्त होते हैं ऐसे शुभकर्मों को पुण्य कहते हैं। और इनसे विपरीत—दुःख के साधन प्राप्त कराने वाले अशुभकर्मों को पाप कहते हैं।

५ आश्रव—*आश्रियतेऽनेन कर्म इति आश्रवः।* अर्थात् जिस मार्ग द्वारा कर्म आते हैं उसे आश्रव कहते हैं। कर्मोपा-

दान के हेतु को आश्रव कहते हैं। कर्मों का उपार्जन मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग द्वारा होता है। वस्तु स्वरूप से विपरीत प्रतिभास को **मिथ्यात्व** कहते हैं हिंसा-अनृतादि दूर न होने को **अविरित** कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार **कषाय** हैं। और मन-वचन-काया का व्यापार **योग** कहलाता है इसमें शुभयोग पुण्य का और अशुभयोग पाप का हेतु है।

६ **संवर**—आते हुए कर्मों को जो रोकता है उसे संवर कहते हैं। संवर यह धर्म का हेतु है। पुण्य और संवर में थोड़ा सा ही अन्तर है। पुण्य से शुभकर्मों का बन्ध होता है तथा संवर आते हुए कर्मों को रोकने का कार्य करता है।

७ **बन्ध**—कर्म का आत्मा के साथ बन्ध होना—लग जाना, इसको बन्ध कहते हैं कर्म के पुद्गल संपूर्णलोक में ठोस ठोस कर भरे हैं। आत्मा में राग-द्वेष की चिकनाहट के कारण ये पुद्गल आत्मा के साथ लग जाते हैं। यह बन्ध चार प्रकार का है। १ **प्रकृतिबन्ध**, २ **स्थितिबन्ध**, ३ **रसबन्ध**, ४ **प्रदेशबन्ध**।

कर्म के मूल ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार, यह इसका **प्रकृतिबन्ध** है। कर्म बन्धन समय इसकी स्थिति अर्थात् इस कर्म का बिपाक कितने समय तक भोगना पड़ेगा, यह भी निर्माण होता है, इसका नाम **स्थितिबन्ध** है। कितने

कर्म कड़वे रस से बन्ध होते हैं और कितने कर्म मीठे रस से बन्ध होते हैं, इस प्रकार विचित्र रूप से कर्म बन्ध होते हैं यह इसका **रसबन्ध** कहलाता है। कोई कर्म अतिगाढ़ रूप से बन्ध होता है, कोई गाढ़ रूप से, कोई शिथिलरूप से और कोई अतिशिथिल रूप से बन्ध होता है, अर्थात् कोई कर्म हल्का और कोई कर्म भारी इसे **प्रदेशबन्ध** कहते हैं।

कर्म के सम्बन्ध में हम पहले वर्णन कर चुके हैं इसलिये यहाँ विशेष वर्णन नहीं किया जाता।

८ **निर्जरा**--बाँधे हुए कर्मों का क्षय करना—कर्मों का भोगने के बाद बिखर जाना इसका नाम **निर्जरा** है। कर्म दो प्रकार से बिखर जाते हैं—जुदा होते हैं। 'मेरे कर्मों का क्षय हो' ऐसी बुद्धि पूर्वक ज्ञान-ध्यान-तप-जप आदि करने से कर्म छूटते हैं, इसको **सकामनिर्जरा** कहते हैं। और कितने ही कर्म अपना काल पूरा होने पर इच्छा के विना ही स्वयं अपने आप जुदा हो जाते हैं—इसे **अकामनिर्जरा** कहते हैं।

९ **मोक्ष**--मोक्ष अर्थात् मुक्ति अथवा छुटकारा। संसार से आत्मा का मुक्त होना, इसका नाम **मोक्ष** है। मोक्ष का 'लक्षण' *कृत्स्नकर्मक्षयो हि मोक्षः।*

आत्मा ने जो कर्म बाँधे हुए होते हैं, उनमें से **घातिकर्मों** (ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-अन्तराय और मोहनीय) का क्षय होते ही जीव को कैवल्य-केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यह

केवलज्ञानी आयुष्य पूर्ण करते समय बाकी के चार अघाति (नाम, आयुष्य, गोत्र और वेदनीय) कर्मों का क्षय करता है, और बाद में आत्मा शरीर से अलग हो (छूट) कर उर्ध्वगति करता है। एक ही समय में वह लोक के अग्रभाग पर पहुंच जाता है और वही अवस्थित हो जाता है। यह मुक्ति में-मोक्ष में-गया हुआ जीव कहलाता है।

सज्जनो ! मोक्ष-मुक्ति-निर्वाण इत्यादि पर्यायवाची शब्द । इस मोक्ष को तमाम अस्तिक दर्शनकारों ने स्वीकार किया है। मात्र इतना ही नहीं परन्तु प्रत्येक दर्शनकार ने 'मोक्ष' का जो लक्षण बतलाया है, वह प्रकारान्तर से एक जैसा ही है देखें :—

नैयायिक कहते हैं :—

स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासहवृत्तिदुःखध्वंसो हि मोक्षः ।

त्रिदण्डिविशेष कहते हैं—

परमानन्दमयपरमात्मनि जीवात्मलयो हि मोक्षः ।

वैदान्तिक कहते हैं—

अविद्यानिवृत्तौ केवलस्य सुखज्ञानात्मकात्मनोऽवस्थानं मोक्षः ।

सांख्य कहते हैं—

पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं माक्षः ।

भाट्ट कहते हैं---

वीतरागजन्मादर्शनाद् नित्यानिरातिशयसुखाविर्भावात् मोक्षः ।

जैन कहते हैं---

कृत्स्नकर्मक्षयो हि मोक्षः ।

उपर्युक्त लक्षणों को सूक्ष्मता से अवलोकन करने वाला कोई भी विचारक इस बात को जान सकता है कि सब का ध्येय एक ही है और वह यह है कि इस संसारार्णव से दूर होना-कर्म से मुक्त होना-आत्मा का अपने असली स्वरूप में आ जाना, इस के सिवाय और कुछ नहीं है।

इस मुक्ति के उपाय भी जुदा जुदा विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार के बतलाए हैं, किन्तु यदि हम इन सब उपायों को अवलोकन करें तो अन्त में एक ही मार्ग पर सब को आना पड़ता है। संसार में जो सन्मार्ग हैं वे सर्वदा सब के लिये ही सन्मार्ग हैं और जो बुरी वस्तुएँ हैं वे सर्वदा सब के लिये बुरी हैं। आत्मिकविकास के साधनों-वास्तविक साधनों के लिये कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। सुप्रसिद्ध महर्षि जैनाचार्य उमास्वाति महाराज ने *सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।* अर्थात् सम्यगदर्शन सम्यगज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है। वस्तुतः इस मार्ग में किसी को भी कुछ आपत्ति नहीं हो सकती।

संक्षेप में कहा जाय तो जैनशास्त्रों की ऐसी मान्यता है कि किसी भी देश, किसी भी वेश, किसी भी जाति, किसी भी धर्म, किसी भी संप्रदाय, किसी भी कुल में अथवा- चाहे कहीं भी रहा हुआ या जन्म प्राप्त किया हुआ मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है; हाँ, इतनी बात अवश्य है कि मोक्ष प्राप्त करने वाले व्यक्ति में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र अवश्य उत्पन्न होना चाहिये। दूसरे शब्दों में कहें तो जिसको *समभाव* (समस्त जीवों पर समानभाव) अपनी आत्मा के समान देखने की दृष्टि हो अथवा सुख-दुःख, अच्छा-बुरा, प्रिय–अप्रिय सब को एक ही भाव से देखने की दृष्टि प्राप्त हो जावे; ऐसा कोई भी मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस बात को जैनशास्त्रकार इन शब्दों में कहते हैं:—

सेयंवरो अ आसंवरो व बुद्धो वा अहव अन्नो वा ।
समभावभाविअप्पा लहेइ मुक्खं न संदेहो ॥

श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बुद्ध हो या अन्य—जिसका आत्मा समभाव से भावित है वह अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें संदेह नहीं है।

सज्जनो! अब मैं अपना निबन्ध पूर्ण करते हुए मात्र इतना ही कहूँगा कि जैनदर्शन में ऐसे अभेद्य, अकाट्य और अगम्य तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है जिनका वर्णन मेरे जैसा अल्पज्ञ और फिर इतने छोटे लेख में नहीं कर

सकता। नय, निक्षेप, प्रमाण, सप्तभंगी और भी कई ऐसे विषय हैं कि जिनका वर्णन आवश्यकीय होने पर भी मुझे छोड़ देना पड़ा है। मेरा अनुरोध है कि विद्वानों को इन्हें जानने के लिये *सन्मतितर्क*, *प्रमाणपरिभाषा*, *सप्तभंगीतरंगिणी*, *रत्नाकरावतारिका*, *स्याद्वादमंजरी* तथा इनके सिवाय *जीवाभिगम*, *पन्नवणा*, *ठाणांग*, *आचारांग* और *भगवती* आदि सूत्रों को अवश्य अवलोकन करना चाहिये।

अन्त में, आपने मेरा वक्तव्य शान्ति पूर्वक श्रवण किया है इसके लिये मैं आपका आभार मानता हूँ। और साथ ही मै आप से अनुरोध भी करता हूँ कि जो मैंने *समभाव* से मुक्ति प्राप्त करने का आपके सामने अभी प्रतिपादन किया है; इस समभाव के सिद्धान्त को प्राप्त कर आप सब मोक्ष-सुख के भोक्ता बनें। इतना अन्तःकरण से चाहता हुआ अपने इस निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

मुद्रक—उमाकान्त मिश्र
नवयुवक प्रेस,
३, कमर्सियल बिल्डिंग्स्
कलकत्ता ।

अभिप्राय*

जैनसाहित्य के सम्बन्ध में इन्हों (जैनाचार्य श्रीविजयेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज) ने बतलाया है कि जैनसाहित्य का ख़ज़ाना बहुत बड़ा है। कोई भी ऐसा विषय नहीं है कि जिस पर जैनधर्म में पुस्तकें न मिलती हों। भारत के सिवाय युरोप वगैरह देशों में भी बहुत जैनग्रंथ उपलब्ध हैं। इन्होंने संक्षेप में जैनधर्म का इतिहास बतलाते हुए यह भी कहा है कि—जैनधर्म में अमुक अमुक चक्रवर्ती राजा हुए हैं। अन्त में जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त *अहिंसा परमो धर्मः* की व्याख्या करते हुए यह कहा कि दुनिया की भविष्य की समस्याएं इसी सिद्धान्त द्वारा हल हो सकती हैं।

इनका निबन्ध बहुत ही उत्तम और स्पष्ट था। एक एक विषय पर बहुत ही सरलता से प्रकाश डाला गया था। इसीलिये जनता ने इस निबन्ध को ध्यानपूर्वक सुना और पसन्द किया। अन्त में इन्होंने धार्मिक वैमनस्य को भूल जाने के लिये अपील करते हुए अपना निबन्ध पूर्ण किया।

"तेज" दिल्ली उर्दू दैनिक ता० १८-२-२५

---

*—मथुरा में दयानन्दशताब्दि के अवसर पर सर्व-धर्म परिषद् में पढ़े गये निबन्ध पर अभिप्राय।